

काल चक्र

(जैन दर्शन के परिप्रेक्ष्य में)



लेखक :

संजीव कुमार गोधा

एम. ए. द्वय (जैन विद्या तुलनात्मक धर्म दर्शन, इतिहास),
नेट (बौद्ध जैन गांधीवादी शांति अध्ययन), एम.फिल (जैन दर्शन)
बी-54, जनता कॉलोनी, जयपुर

प्रकाशक :

श्री अ.भा.दि. जैन विद्वत्परिषद् ट्रस्ट

129, जादौननगर बी, स्टेशन रोड़, दुर्गापुरा, जयपुर

फोन : 0141-2722274 • मो. 9462022274

E-mail : ptstjaipur@yahoo.com

प्रथम संस्करण : 1 हजार

13 जून, 2013

(श्रुतपंचमी के अवसर पर)

लागत मूल्य : दस रुपये

विक्रय मूल्य : स्वाध्याय

प्राप्ति स्थल

1. पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट,

ए-4, बापूनगर, जयपुर

फोन नं - 0141-275581

2. श्री अ.भा.दि.जैन विद्वत्परिषद् ट्रस्ट

129, जादौननगर बी, स्टेशन रोड़, दुर्गापुरा, जयपुर

टाईपसैटिंग

आर्जव ग्राफिक्स

बी-54, जनता कॉलोनी,

जयपुर

मुद्रक :

श्री प्रिन्टर्स

मालवीय नगर, जयपुर

प्रकाशकीय

श्री अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद दिगम्बर जैन समाज के शीर्षस्थ विद्वानों की पुरातन प्रतिष्ठित संस्था है, जिसकी स्थापना प्रातः स्मरणीय पूज्य गणेशप्रसादजी वर्णी द्वारा वीर शासन जयन्ती के दिन सन् 1944 में की गई थी। इस संस्था का अपना एक गौरवशाली इतिहास रहा है।

विद्वत्परिषद के प्रख्यात विद्वानों द्वारा देशभर में शिविरों एवं संगोष्ठियों का आयोजन किया जाता रहा है। सिद्धान्तचक्रवर्ती पूज्य आचार्य श्री विद्यानन्दजी मुनिराज के संसंध पावन सान्निध्य में 18 से 22 अप्रैल 1999 तक संस्था का स्वर्णजयन्ती समारोह एवं समयसार वाचना वर्ष आयोजित किया गया, जिसमें वर्षभर संगोष्ठियों एवं वाचनाओं की धूम मची रही। इनमें आचार्य श्री विद्यानन्दजी, आचार्य श्री धर्मभूषणजी, श्रवणबेलगोला के भट्टारक स्वस्तिश्री चारूकीर्तिजी एवं वयोवृद्ध विद्वान पण्डित नाथूलालजी शास्त्री इन्दौर के सान्निध्य में हुई वाचनायें प्रभावपूर्ण रहीं।

विद्वत्परिषद द्वारा समय-समय पर राष्ट्रीय संगोष्ठियों का आयोजन, विधान-पूजन प्रशिक्षण शिविर, ध्यान व सामायिक शिविर, विद्वत्सम्मान आदि महत्वपूर्ण कार्य तो किये ही जाते हैं। इनके अतिरिक्त इस संस्था ने सत्साहित्य-प्रकाशन के क्षेत्र में भी अपना कदम बढ़ाया है। संस्था द्वारा अब तक लोकोपयोगी 23 पुस्तकों का प्रकाशन किया जा चुका है।

इसी शृंखला में विद्वत्परिषद से लगभग 15 वर्षों से जुड़े युवा विद्वान पण्डित संजीवकुमार गोधा द्वारा लिखित 'कालचक्र' नामक पुस्तक का प्रकाशन किया जा रहा है। गोधाजी आज देश-विदेश में ख्यातिप्राप्त प्रवचनकार विद्वान के रूप में उभरकर सामने आ रहे हैं। सम्पूर्ण भारतवर्ष के साथ-साथ आप कनाडा एवं अमेरिका के अनेक शहरों में जाकर तत्त्वज्ञान के प्रचार-प्रसार में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं।

जैनदर्शन के परिप्रेक्ष्य में कालद्रव्य का सर्वांगीण, तर्कसंगत, शोधपरक, प्रस्तुतिकरण करने वाली यह 'कालचक्र' नामक कृति निश्चित ही पाठकों को इस विषय का समग्र ज्ञान करायेगी। आप सभी इसका भरपूर लाभ उठावें, इसी आशा के साथ।

– अखिल जैन 'बंसल'

महामंत्री-श्री अ.भा.दि.जैन विद्वत्परिषद

विषय सूची

काल की परिभाषा / स्वरूप	6
काल के भेद	9
(1) व्यवहार और निश्चय काल	9
(2) व्यवहार काल के विविध मापदण्ड	11
(3) संख्यात, असंख्यात और अनन्त काल	13
(4) भूत, वर्तमान और भविष्य काल	15
(5) उत्सर्पिणी – अवसर्पिणी काल	16
– अवसर्पिणी के प्रथम तीन काल (भोगभूमि)	22
– कल्पवृक्षों का स्वरूप	24
– अवसर्पिणी का पहला काल (सुषमा-सुषमा)	28
– अवसर्पिणी का दूसरा काल (सुषमा)	31
– अवसर्पिणी का तीसरा काल (सुषमा-दुषमा)	32
– कुलकर व्यवस्था	35
– अवसर्पिणी के अन्तिम तीन काल (कर्मभूमि)	41
– अवसर्पिणी का चतुर्थ काल (दुषमा-सुषमा)	41
– तरेसठ शलाका पुरुष	42
– अवसर्पिणी का पंचम काल (दुषमा)	46
– धर्मविध्वंसक कल्की एवं उपकल्की	47
– अन्तिम कल्की	49
– अवसर्पिणी का छठा काल (अतिदुषमा)	50
– कल्पान्त-काल (प्रलय)	51
– हुण्डावसर्पिणी काल	53
– उत्सर्पिणी के छह काल	55
– काल अपरिवर्तन वाले क्षेत्र	57
(6) वैदिक ग्रन्थों में भोगभूमि और कर्मभूमि का उल्लेख	59
(7) कुछ सहज जिज्ञासायें ?	61
– वर्तमान में कौनसा काल – उत्सर्पिणी या अवसर्पिणी ?	61
– विश्वास नहीं होता	63
– कौनसा काल श्रेष्ठ ?	64

जैन दर्शन के परिप्रेक्ष्य में –

काल चक्र

‘काल’ बहुत प्रचलित शब्द है। नैयायिक, वैशेषिक, बौद्ध, सांख्य, योग आदि भारतीय दर्शनों के अतिरिक्त पाश्चात्य दार्शनिकों ने भी इसके स्वरूप की चर्चा की है। किन्तु जैसा सूक्ष्म एवं विशद विवेचन जैन दार्शनिकों ने किया है, वैसा अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। काल शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों में होता है। यहाँ हम जैन दर्शन के परिप्रेक्ष्य में द्रव्य मीमांसा के अंतर्गत काल की चर्चा कर रहे हैं। जैन परम्परा में भी दिगम्बर एवं श्वेताम्बर मत में इसके स्वरूप को लेकर किञ्चित् भिन्नता दिखाई देती है। दिगम्बर परम्परा में इसे स्वतंत्र द्रव्य के रूप से स्वीकार किया है, जबकि श्वेताम्बर परम्परा में इसे मात्र अन्य द्रव्यों की पर्याय के रूप में माना है।

आचार्य हरिभद्र लिखते हैं कि – कुछ मतवाले (श्वेताम्बर) आचार्य काल को स्वतन्त्र पदार्थ नहीं मानते, उनके अभिप्राय से धर्म आदि जड़ और चेतन द्रव्यों की पर्याय ही काल है, उनके मत में यह लोक पाँच अस्तिकायरूप है। जो आचार्य काल को स्वतंत्र छठवाँ द्रव्य मानते हैं, उनके मतानुसार इस लोक में छहों द्रव्य पाये जाते हैं, अतएव लोक षड्द्रव्यात्मक है।¹

छह द्रव्यों में काल भी एक द्रव्य है,² जो कि स्वतंत्र पदार्थ है।

1. षड्दर्शनसमुच्चय, 4/49/171/पृ.250

2. ‘कालश्च’ – तत्त्वार्थसूत्र, 5/39

काल को छोड़कर शेष पाँच द्रव्य अस्तिकाय³ कहलाते हैं। काल द्रव्य एक प्रदेशी होने से अस्तिकाय में शामिल नहीं है।

काल का क्या स्वरूप है, उसके कितने भेद—प्रभेद हैं, कौनसे क्षेत्र में कौनसा काल वर्तता है, विभिन्न कालों में मनुष्यादि के साथ कैसी परिस्थितियाँ बनती है ? भोग भूमि, कर्म भूमि, युग प्रवर्तक तीर्थंकर—चक्रवर्ती आदि शलाका पुरुष, विध्वंस की चेष्टा करने वाले कल्की व अर्द्धकल्की, सृष्टि प्रलय का स्वरूप आदि अनेक रोचक विषयों के सन्दर्भ में यहाँ चर्चा की जा रही है।

काल की परिभाषा / स्वरूप –

(1) स्पर्श, रस, गंध, वर्ण से रहित, अगुरुलघुत्व गुण सहित और वर्तना लक्षण से युक्त काल द्रव्य है।⁴

(2) **जीवादीदव्याणं परिवट्टणकारणं हवे कालो।**⁵ अर्थात् जीवादि द्रव्यों के परिवर्तन का कारण काल द्रव्य है।

(3) **वर्तनापरिणामक्रियाः परत्वापरत्वे च कालस्य।**⁶ अर्थात् वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व काल के उपकार हैं।

(4) जो लोकाकाश के एक—एक प्रदेश पर रत्नों की राशि के समान भिन्न—भिन्न स्थित हैं, ऐसे कालाणु असंख्य द्रव्य हैं।⁷

(5) प्रत्येक द्रव्य अपने स्वभाव में सदा ही वर्तते हैं, उनका यह

3. बृहद् द्रव्यसंग्रह, गाथा—23

4. तिलोपपण्णती, 4/281

5. नियमसार, गाथा—33

6. तत्त्वार्थसूत्र, 5/22

7. द्रव्यसंग्रह, गाथा—22

वर्तना किसी बाह्य सहकारी कारण के बिना नहीं हो सकता, अतः इनको वर्तानेवाला सहकारी कारणरूप वर्तना लक्षण जिसमें पाया जाता है, उसे काल कहते हैं। काल के आधार से ही समस्त द्रव्य वर्तते हैं।⁸

(6) काल द्रव्य अनादिनिधन है, वर्तना उसका लक्षण माना गया है। यह अत्यन्त सूक्ष्म परमाणु बराबर है तथा असंख्यात होने के कारण सम्पूर्ण लोकाकाश में भरा हुआ है। इसमें अनन्त पदार्थों के परिणमन कराने की सामर्थ्य है, अतः स्वयं असंख्यात होकर भी अनन्त पदार्थों के परिणमन में सहकारी होता है।⁹

जिसप्रकार छह द्रव्यों में धर्मास्तिकाय जीव—पुद्गलों के गमन में तथा अधर्मास्तिकाय उनकी स्थिति में निमित्त होता है,¹⁰ आकाश द्रव्य सब द्रव्यों को अवगाहना¹¹ देने का कार्य करता है, उसीप्रकार काल द्रव्य सभी द्रव्यों के वर्तना/परिणमन/परिवर्तन में निमित्त होता है।

लोकाकाश के असंख्यात प्रदेश हैं, अतः प्रत्येक प्रदेश पर एक—एक स्थित होने से कालाणु भी असंख्यात हैं। वे सभी एक दूसरे से स्वतंत्र हैं, इसलिये काल द्रव्य अस्तिकाय नहीं है। इसे धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय के समान लोकव्यापी एक अखण्ड द्रव्य नहीं माना जा सकता; क्योंकि इसे अनेक द्रव्य माने बिना जगत के विभिन्न क्षेत्रों में काल भेद संभव नहीं है। आकाश के

8. गोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा—568

9. आदिपुराण, भाग—1, 3/2—3

10. 'गतिस्थित्युपग्रहौ धर्माधर्मयोरुपकारः।' — तत्त्वार्थसूत्र, 5/17

11. 'आकाशस्यावगाहः।' — वही, 5/18

प्रत्येक प्रदेश पर समय भेद इसे अनेक द्रव्य माने बिना नहीं बन सकता। भरत-ऐरावत क्षेत्र में दिन एवं उसी समय विदेह क्षेत्र में रात्रि रूप व्यवहार से भी काल द्रव्य की अनेकता सिद्ध होती है।

सूर्य-चन्द्रादि मनुष्य क्षेत्र में निरन्तर सुमेरु पर्वत की प्रदक्षिणा¹² देते रहते हैं, इसी के कारण काल का विभाग¹³ अर्थात् दिन-रात की व्यवस्था बनती है। मनुष्य लोक अर्थात् ढाई द्वीप के बाहर दिन-रात का परिवर्तन नहीं होता, वहाँ सदैव एक समान परिस्थिति रहती है। यही कारण है कि **आचार्य हरिभद्रसूरि** काल द्रव्य का सद्भाव मनुष्य लोक में ही मानते हैं। उनका कहना है **'मनुष्यलोकाद्बहिः कालद्रव्यं नास्ति'**¹⁴ अर्थात् मनुष्य लोक के बाहर काल द्रव्य नहीं है। जम्बू द्वीप, धातकीखण्ड तथा अर्द्ध पुष्कर द्वीप - इसतरह ढाई द्वीपों में ही मनुष्य पाये जाते हैं। कालद्रव्य का परिणमन या कार्य इन्हीं ढाई द्वीपों में देखा जाता है, अतः काल द्रव्य इन ढाई द्वीपों में ही है।

जैनदर्शन अनेकान्तवादी दर्शन है। काल को जब आकाश प्रदेशों पर 'रयणाणं रासी इव'¹⁵ अर्थात् बिखरी हुई रत्नराशि के समान देखते हैं तो वह सम्पूर्ण लोकाकाश में मौजूद है; किन्तु जब काल को दिवस-रात्रि के कारण की दृष्टि से देखते हैं तो उसका सद्भाव मात्र ढाई द्वीप में कहा जा सकता है।

12. 'मेरुप्रदक्षिणा नित्यगतयो नृलोके ।' - तत्त्वार्थसूत्र, 4/13

13. 'तत्कृतः कालविभागः ।' - वही, 4/14

14. षड्दर्शनसमुच्चय, 4/49/177/पृ. 253

15. द्रव्यसंग्रह, गाथा-22

काल के भेद -

काल भी एक द्रव्य होने से उत्पाद-व्यय-ध्रुवता से युक्त है। उसमें भी द्रव्य-गुण-पर्यायें पायी जाती है। यद्यपि काल में प्रतिक्षण परिणमन होने से उत्पाद-व्यय होते रहते हैं, तथापि द्रव्य दृष्टि से वह जैसा का तैसा रहता है, उसके स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं होता, वह कभी भी कालान्तर रूप या अकालरूप नहीं हो जाता। अतीत, वर्तमान या भविष्य कोई भी अवस्था क्यों न हो - सभी में 'काल, काल, काल...' यह साधारण व्यवहार पाया ही जाता है। अविरल प्रवाहमान उस काल द्रव्य के विविध अपेक्षाओं से अनेकों भेद मिलते हैं। जैसे - व्यवहार काल, निश्चयकाल, भूत-वर्तमान-भविष्य काल, उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल आदि। **हिन्दू पुराणों** में भी सतयुग, द्वापर, त्रेता और कलयुग नामक चार प्रकार के काल प्रसिद्ध हैं।

1. व्यवहार और निश्चय काल -

काल द्रव्य के मुख्य (निश्चय) और अमुख्य (व्यवहार) - ऐसे दो भेद हैं, इनमें से मुख्य काल के आश्रय से अमुख्य काल की प्रवृत्ति होती है।¹⁶ जो दूसरे द्रव्यों के परिवर्तनरूप है, वह व्यवहार काल है तथा स्वयं वर्तना लक्षणयुक्त निश्चय काल है।¹⁷ आचार्य पूज्यपाद¹⁸ कहते हैं कि **'परमार्थकालो वर्तनालक्षणः । परिणामादिलक्षणो व्यवहारकालः'** अर्थात् परमार्थ काल वर्तना लक्षण वाला और व्यवहार काल परिणाम आदि लक्षण वाला है।

16. तिलोयपण्णत्ती, 4/282

17. द्रव्यसंग्रह, गाथा-21

18. सर्वार्थसिद्धि, 5/22/569/पृ. 223

व्यंजन पर्याय के वर्तमानरूप में ठहरने जितने काल को व्यवहार काल कहते हैं।¹⁹ यह समय, आवलि, उच्छ्वास, नाडी आदि अनेक प्रकार का होता है, इसकी गणना सूर्यादि ज्योतिषचक्र के घूमने से होती है।²⁰ **आचार्य पूज्यपाद**²¹ भी इसीप्रकार की बात कहते हैं कि – समय और आवली आदि रूप व्यवहार काल विभाग गतिवाले ज्योतिषी देवों द्वारा किया हुआ है। **आचार्य अकलंकदेव**²² भी व्यवहार काल का कारण ज्योतिषी देवों को बताते हैं।

व्यवहार काल का क्षेत्र बताते हुये **आचार्य नेमीचन्द्र** लिखते हैं कि – **‘माणुसखेतमिह’**²³ अर्थात् यह मनुष्य क्षेत्र में ही होता है। वस्तुतः व्यवहार काल का संबंध सूर्य, चन्द्रादि विमानों के गमन से है। ये सभी विमान मनुष्य लोक में ही गमन करते हैं, अतः व्यवहार काल भी मनुष्य क्षेत्र में ही प्रवर्तता है। **आचार्य कुन्दकुन्द पंचास्तिकाय**²⁴ में कहते हैं कि – समय, निमिष, काष्ठा, कला, घड़ी, दिन-रात, मास, ऋतु, अयन और वर्ष – इनमें पराश्रितपना अर्थात् पर की अपेक्षा होने से इन्हें व्यवहार काल कहा जाता है।

निश्चय काल का स्वरूप बताते हुये **आचार्य कुन्दकुन्द** लिखते हैं – काल द्रव्य पाँच वर्ण व पाँच रस से रहित, दो गन्ध

19. गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा-572

20. आदिपुराण, 3/12

21. सर्वार्थसिद्धि, 4/14/469/पृ. 185

22. तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 4/14/पृ.407

23. गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा-577

24. पंचास्तिकाय, गाथा-25

व आठ स्पर्श से रहित, अगुरुलघु, अमूर्त और वर्तना लक्षणवाला है।²⁵ आचार्य अमृतचन्द्र²⁶ क्रम से होने वाली समयरूप पर्यायों को व्यवहार काल तथा उसके आधारभूत द्रव्य को निश्चय काल कहते हैं। उनका मूल कथन इसप्रकार है –

‘क्रमानुपाती समयाख्यः पर्यायो व्यवहारकालः, तदाधारभूतं द्रव्यं निश्चयकालः’

इसीप्रकार का भाव वे आगे भी व्यक्त²⁷ करते हैं – **‘निश्चयकालो नित्यः द्रव्यरूपत्वात्, व्यवहारकालः क्षणिकः पर्याय रूपत्वादिति’** अर्थात् निश्चयकाल द्रव्यरूप होने से नित्य है तथा व्यवहार काल पर्यायरूप होने से क्षणिक है।

उक्त सम्पूर्ण आगम प्रमाणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वर्तना लक्षण युक्त कालाणु निश्चय काल द्रव्य है तथा जो दूसरे द्रव्यों को परिणमन में निमित्त हो वह व्यवहार काल है। तथा जब द्रव्यों के परिणमन में सहयोगी होने को निश्चय काल कहा जाता है, तब घड़ी-घण्टा, दिन-रात आदि को व्यवहार काल कहते हैं।

2. व्यवहार काल के विविध मापदण्ड –

व्यवहार काल को प्रदर्शित करने के लिये जैनाचार्यों ने अनेक माप दण्ड निर्धारित किये हैं। **गोम्मटसार जीवकाण्ड**²⁸ एवं

25. पंचास्तिकाय, गाथा-24

26. वही, गाथा-100 की टीका

27. वही, गाथा-101 की टीका

28. गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा 573 से 576

लोकविभाग²⁹ में दिये गये विविध घटकों को निम्नानुसार देखा जा सकता है —

असंख्यात समय	=	1 आवली
संख्यात आवली	=	1 उच्छ्वास
7 उच्छ्वास	=	1 स्तोक
7 स्तोक	=	1 लव
38.5 लव (24 मिनिट)	=	1 नाली
2 नाली	=	1 मुहूर्त
1 मुहूर्त — 1 समय	=	भिन्नमुहूर्त
30 मुहूर्त (24 घण्टा)	=	1 दिनरात
15 दिन	=	1 पक्ष
2 पक्ष	=	1 मास
2 मास	=	1 ऋतु
3 ऋतु	=	1 अयन (छः मास)
2 अयन	=	1 वर्ष

व्यवहार काल सूचक इसीप्रकार के विविध घटक **आचार्य यतिवृषभ**³⁰ ने भी बताये हैं तथा **आचार्य अमृतचन्द्र**³¹ ने किञ्चित् शब्द भेद से निम्नानुसार कहे हैं —

असंख्य समय	=	1 निमिष
8 निमिष	=	1 काष्ठा
16 काष्ठा	=	1 कला

29. लोकविभाग, 6/201-204

30. तिलोयपण्णत्ती, 4/289-292

31. नियमसार, गाथा-31 टीका

32 कला	=	1 घड़ी
60 घड़ी	=	1 अहोरात्र
30 अहोरात्र	=	1 मास
2 मास	=	1 ऋतु
3 ऋतु	=	1 अयन (छः मास)
2 अयन	=	1 वर्ष

काल का सबसे छोटा अविभागी अंश समय के नाम से जाना जाता है, इसका परिमाण बताते हुये कहा है कि पुद्गल के परमाणु को आकाश के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश पर गमन में जितना काल लगता है, वह समय है।³² लोक विभाग³³ में एक परमाणु द्वारा दूसरे परमाणु को लॉघने में लगे काल को समय कहा है। जैनाचार्यों ने 150 अंक प्रमाण वर्षों के काल को उत्कृष्ट संख्यात काल कहा है और इसे अचलात्म³⁴ संज्ञा से संबोधित किया है। वर्ष से लेकर अचलात्म तक के कालांशों की चर्चा को आचार्य यतिवृषभ ने तिलोयपण्णत्ती³⁵ में विस्तार से बताया है।

3. संख्यात, असंख्यात और अनन्त काल —

जैन आगमों^{36,37} में दो को जघन्य संख्यात तथा अचलात्म को उत्कृष्ट संख्यात कहा है। इन दोनों के बीच की संख्याओं को

32. तिलोयपण्णत्ती, 4/288

33. लोकविभाग, 6/201

34. तिलोयपण्णत्ती, 4/312

35. वही, 4/294 से 312 का सार

36. तिलोयपण्णत्ती, 4/313 व टीका का सार

37. तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 3/38, पृष्ठ-206

मध्यम संख्यात कहा गया है। उत्कृष्ट संख्यात काल का 150 अंक प्रमाण उक्त माप निकालने के लिये बुद्धि कल्पित एक लाख योजन विस्तारवाले और एक हजार योजन गहरे – शलाका, प्रतिशलाका, महाशलाका तथा अनवस्था नामक चार कुण्ड स्थापित कर उनमें सरसों के दानों को आधार बनाकर विस्तार से समझाया है। यह 150 अंक प्रमाण उत्कृष्ट संख्यात चौदह पूर्व के ज्ञाता श्रुतकेवली का विषय है।

उत्कृष्ट संख्यात में एक जोड़ देने पर जघन्य असंख्यात हो जाता है। यहाँ असंख्यात के भी नौ भेद बताये गये हैं। जघन्य परितासंख्यात, मध्यम परितासंख्यात, उत्कृष्ट परितासंख्यात, जघन्य युक्तासंख्यात, मध्यम युक्तासंख्यात, उत्कृष्ट युक्तासंख्यात, जघन्य असंख्यातासंख्यात, मध्यम असंख्यातासंख्यात और उत्कृष्ट असंख्यातासंख्यात। यह **उत्कृष्ट असंख्यात अवधि ज्ञान का विषय** है।³⁸

उत्कृष्ट असंख्यातासंख्यात में एक जोड़ देने पर जघन्य अनन्त होता है। इसके भी नौ भेद बताये गये हैं। जघन्य परितानंत, मध्यम परितानंत, उत्कृष्ट परितानंत, जघन्य युक्तानंत, मध्यम युक्तानंत, उत्कृष्ट युक्तानंत, जघन्य अनंतानंत, मध्यम अनंतानंत और उत्कृष्ट अनंतानंत। यह **अनंत केवलज्ञान का विषय** है।³⁹ छदमस्थ के ज्ञान का विषय नहीं है।

38. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/314 एवं टीका से

(2) तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 3/38/पृ. 206/पं. 30

39. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/315 एवं टीका से

(2) तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 3/38/पृ. 206/पं. 31

4. भूत, वर्तमान और भविष्य काल –

व्यवहार काल के भूत, वर्तमान, और भविष्य के रूप में तीन भेद भी किये गये हैं। आचार्य पूज्यपाद कहते हैं – ‘स त्रिधा व्यवतिष्ठते—भूतो वर्तमानो भविष्यन्निति। तत्र परमार्थकाले कालव्यपदेशो मुख्यः, भूतादिव्यपदेशो गौणः। व्यवहारकाले भूतादिव्यपदेशो मुख्यः, कालव्यपदेशो गौणः।’⁴⁰ अर्थात् वह काल भूत, वर्तमान और भविष्य के भेद से तीन प्रकार का कहा गया है। निश्चय काल का कथन करने पर काल संज्ञा मुख्य तथा भूतादि व्यपदेश गौण रहता है तथा व्यवहार काल में भूतादिरूप संज्ञा मुख्य है और काल संज्ञा गौण है। आचार्य अमृतचन्द्र⁴¹ ने भी ‘अतीतानागतवर्तमानभेदात् त्रिधा वा’ कहकर व्यवहार काल को तीन भेद वाला भी बताया है। आदिपुराण⁴² में कहा है कि संसार का व्यवहार चलाने में समर्थ होने से भूत, भविष्यत और वर्तमान रूप से व्यवहार काल की कल्पना की है।

इन तीनों कालों की परिभाषा बताते हुये आचार्य नेमीचन्द्र⁴³ कहते हैं कि सिद्ध राशि को संख्यात आवली के प्रमाण से गुणा करने पर जो प्रमाण हो, उतना ही अतीत/भूतकाल का प्रमाण है। वस्तुतः हर छह महीना आठ समय में छह सौ आठ जीव मुक्ति/सिद्धदशा प्राप्त करते हैं। अतः सिद्ध राशि को छह महीना आठ समय से गुणा करके 608 का भाग देने पर अतीत काल का

40. सर्वार्थसिद्धि, 5/22/569/पृ. 223

41. नियमसार, गाथा—31 टीका

42. आदिपुराण, 3/11

43. गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा — 578—580

प्रमाण संख्यात आवलि गुणित सिद्धराशि प्राप्त होता है। **वर्तमान काल** का प्रमाण एक समय मात्र है। तथा सम्पूर्ण जीव राशि व समस्त पुद्गलद्रव्य राशि से भी अनंतगुणा **भविष्यत काल** का प्रमाण है। यह व्यवहार काल वर्तमान की अपेक्षा उत्पन्नध्वंसी और भूत-भविष्य की अपेक्षा दीर्घान्तरस्थायी है।

5. उत्सर्पिणी – अवसर्पिणी काल –

जैन परम्परा के अनुसार कालचक्र उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के रूप में क्रमशः निरन्तर परिवर्तन किया करता है। उत्सर्पिणी काल उत्थान का काल है, इस काल में विकास देखा जाता है तथा अवसर्पिणी काल ह्रास का काल है, इसमें निरन्तर हर चीज में कमी आती रहती है। इन दोनों का स्वरूप स्पष्ट करनेवाले कतिपय शास्त्रीय उद्धरण निम्नानुसार है, किञ्चित् शब्द भेद से लगभग सभी में एकसी बात कही गई है –

(1) **णर-तिरियाणं आऊ, उच्छेह-विभूदि-पहुदियं सव्वं।
अवसर्पिणिह हायदि, उस्सर्पिणियासु वड्ढेदि।**⁴⁴

अवसर्पिणी काल में मनुष्य एवं तिर्यचों की आयु, शरीर की ऊँचाई एवं विभूति आदि सब ही घटते रहते हैं तथा उत्सर्पिणी काल में बढ़ते रहते हैं।

(2) **अनुभवादिभिरवसर्पणशीला अवसर्पिणी।
तद्धिपरीतोत्सर्पिणी।**⁴⁵

44. तिलोयपण्णत्ती, 4/318

45. तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 3/27/4-5/पृ.191

जिसमें अनुभव, आयु, शरीरादि की उत्तरोत्तर उन्नति हो, वह उत्सर्पिणी और जिसमें अवनति हो, वह अवसर्पिणी है।

(3) **भरते ऐरावते च मनुष्याणां वृद्धिहासाविति...अनुभवायुः
प्रमाणादिकृतौ।**⁴⁶ जिसमें भरत और ऐरावत क्षेत्र में मनुष्यों के अनुभव, आयु, प्रमाण आदि की वृद्धि होती है, वह उत्सर्पिणी काल है और जिसमें इनका ह्रास होता है, वह अवसर्पिणी काल है।

(4) **उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यौ द्वौ भेदौ तस्य कीर्तितौ।
उत्सर्पादवसंपच्चि बलायुर्देहवर्षणाम्।**⁴⁷

जिसमें मनुष्यों के बल, आयु और शरीर का प्रमाण क्रम-क्रम से बढ़ता जाये, उसे उत्सर्पिणी कहते हैं और जिसमें वे क्रम-क्रम से घटते जायें, उसे अवसर्पिणी कहते हैं।

(5) जब बाहुबल, वैभव, मनुष्य शरीर, धर्म, ज्ञान, गाम्भीर्य और धैर्य बढ़ते हैं तो उत्सर्पिणी काल होता है, और जब ये घटते हैं, तब अवसर्पिणी काल होता है।⁴⁸

(6) पंच भरत एवं पंच ऐरावत क्षेत्रों में स्थित जीवों के शरीर की ऊँचाई, आयु और बल की क्रमशः अवसर्पिणी में हानि और उत्सर्पिणी काल में वृद्धि होती है।⁴⁹

अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी कालों का प्रमाण –

दोनों ही काल छह-छह प्रकार के हैं। **अवसर्पिणी काल –**

46. सर्वार्थसिद्धि, 3/27/418/पृ. 166

47. आदिपुराण, 3/14

48. आचार्य पुष्पदन्त : महापुराण, भाग-1, संधि-2/8/पृ.31

49. त्रिलोकसार, गाथा 779

सुषमसुषमा, सुषमा, सुषमदुःषमा, दुःषमसुषमा, दुःषमा और अतिदुःषमा के भेद से छह प्रकार का है तथा **उत्सर्पिणी काल** अतिदुःषमा से प्रारंभ करके क्रमशः बढ़ता हुआ सुषमसुषमा तक जाता है। दोनों ही कालों का प्रमाण दस—दस कोड़ाकोड़ी सागरोपम है, दोनों मिलकर एक **कल्पकाल** होता है⁵⁰। कोड़ाकोड़ी का अर्थ करोड़ गुना करोड़ होता है। वर्तमान में कुछ विचारक गणनाओं में सामंजस्य बैठाने के लिये कोड़ी शब्द का अर्थ 20 अथवा 10 भी बताने लगे हैं। लौकिक में पतंग आदि कुछ वस्तुयें कोड़ी की गणनानुसार बिकती है।

सागरोपम — यह काल की एक नाप है, जिसका अर्थ मानव को ज्ञात समस्त संख्याओं से अधिक काल वाले काल खण्ड का उपमा द्वारा प्रदर्शित परिमाण होता है। दस कोड़ाकोड़ी पल्योपम का एक सागरोपम होता है।⁵¹ पल्योपम की चर्चा तिलोयपण्णत्ती⁵² सर्वार्थसिद्धि⁵³ राजवार्तिक⁵⁴ त्रिलोकसार⁵⁵ कार्तिकेयानुप्रेक्षा⁵⁶ आदि अनेक आगम ग्रन्थों में विस्तार से की गई है। वहाँ इसका स्वरूप स्पष्ट करते हुये कहा है कि — एक प्रमाण योजन विस्तार वाले और इतने ही गहरे गड्ढे को उत्तम भोगभूमि में एक दिन से लेकर

50. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/319 व 320 (पूर्वाद्ध)

(2) तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 3/27/पृ. 388

(3) आदिपुराण, 3/15/पृ. 47

51. तिलोयपण्णत्ती, 1/130

52. तिलोयपण्णत्ती, 1/119—130 का सार

53. सर्वार्थसिद्धि, 3/38/439/पृ.174 का सार

54. तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 3/38/7/पृ. 208 का सार

55. त्रिलोकसार, गाथा—102

56. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, लोकानुप्रेक्षा, भावार्थ पृ.—56—57

सात दिन तक के उत्पन्न हुये मेढ़े के करोड़ों रोमों के अविभागी खण्डों से भरकर सौ—सौ वर्षों में एक—एक बाल निकालें। जब वह गड्ढा पूरा खाली हो जाये तब एक व्यवहार पल्य (पल्योपम) होता है। असंख्य व्यवहार पल्य का एक उद्धारपल्य तथा असंख्य उद्धारपल्य का एक अद्धापल्य होता है। दस कोड़ाकोड़ी अद्धापल्योपम का एक सागरोपम होता है। ऐसे बीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम का एक **कल्पकाल** कहा गया है।

जैनों के समान वैदिक ग्रन्थों में भी कल्पकाल का उल्लेख मिलता है। वहाँ चार अरब बत्तीस करोड़ वर्षों का एक कल्प कहा है। इस कल्प में 1000 चतुर्युग होते हैं। वैदिक पुराणों में इतना काल ब्रह्मा के एक दिन या रात्रि के बराबर माना गया है।⁵⁷

अवसर्पिणी व उत्सर्पिणी के विभाग — तिलोयपण्णत्ती⁵⁸, सर्वार्थसिद्धि⁵⁹, राजवार्तिक⁶⁰, त्रिलोकसार⁶¹ एवं लोकविभाग⁶² में अवसर्पिणी व उत्सर्पिणी के दस कोड़ाकोड़ी सागरोपम प्रमाण काल को उनके छह भेदों में विभाजित किया है। अवसर्पिणी के छह विभाग/काल निम्नानुसार है —

(1) सुषमासुषमा — 4 कोड़ाकोड़ी सागर

(2) सुषमा — 3 कोड़ाकोड़ी सागर

57. जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति सूत्र, प्रस्तावना, पृष्ठ—25 तथा भारतीय सृष्टिविद्या, पृष्ठ—24

58. तिलोयपण्णत्ती, 4/320—323

59. सर्वार्थसिद्धि, 3/27/418/पृ. 166—167

60. तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 3/27/पृ. 388

61. त्रिलोकसार, 781

62. लोकविभाग, 5/5—7

- (3) सुषमादुषमा — 2 कोड़ाकोड़ी सागर
 (4) दुषमासुषमा — 1 कोड़ाकोड़ी सागर में 42,000 वर्ष कम
 (5) दुषमा — 21,000 वर्ष
 (6) अतिदुषमा — 21,000 वर्ष

उत्सर्पिणी के छह विभाग⁶³ इसके विपरीत क्रम में है, जो कि निम्नानुसार है —

- (1) अतिदुषमा — 21,000 वर्ष
 (2) दुषमा — 21,000 वर्ष
 (3) दुषमासुषमा — 1 कोड़ाकोड़ी सागर में 42,000 वर्ष कम
 (4) सुषमादुषमा — 2 कोड़ाकोड़ी सागर
 (5) सुषमा — 3 कोड़ाकोड़ी सागर
 (6) सुषमासुषमा — 4 कोड़ाकोड़ी सागर

उक्त नामों में काल अथवा समय सूचक 'समा' शब्द में 'सु' एवं 'दुर्' उपसर्गों का प्रयोग उनके शुभ और अशुभ का सूचक है। इस उपसर्गों से छहों कालों के नाम की सार्थकता बताते हुये **आचार्य जिनसेन** लिखते हैं —

समा कालविभागः स्यात् सुदुसावर्हगर्हयोः।

सुषमा दुःषमेत्येवमतोऽन्वर्थत्वमेतयोः ॥⁶⁴

63. तिलोयपण्णत्ती, 4/1576-77

64. आदिपुराण, 3/19

ये उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी नामक दोनों ही भेद कालचक्र के परिभ्रमण से अपने छहों कालों के साथ-साथ **कृष्ण पक्ष** और **शुक्ल पक्ष** की तरह घूमते रहते हैं⁶⁵ अर्थात् जिस तरह कृष्ण पक्ष के बाद शुक्ल पक्ष और शुक्ल पक्ष के बाद कृष्ण पक्ष आता है, उसी तरह अवसर्पिणी के बाद उत्सर्पिणी और उत्सर्पिणी के बाद अवसर्पिणी आती है। कृष्ण एवं शुक्ल पक्ष के समान कालचक्र परिवर्तन की बात **रविषेणाचार्य**⁶⁶ ने **पद्म पुराण** में भी की है। भरत एवं ऐरावत क्षेत्रों में रँहट-घटिका न्याय⁶⁷ की तरह अनन्तानन्त⁶⁸ उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी होने का उल्लेख है। जैन मान्यतानुसार ये क्रम सदा चलता ही रहता है।

इस कालचक्र के क्रम को चित्र द्वारा निम्नानुसार देखा जा सकता है —



65. आदिपुराण, 3/21

66. पद्मपुराण, प्रथम भाग, 3/73

67. **रँहट घटिका न्याय**— जैसे रँहट की घड़ियाँ चक्रवत् घूमती हुई बार-बार ऊपर एवं नीचे आती-जाती हैं, उसीप्रकार अवसर्पिणी के बाद उत्सर्पिणी और उत्सर्पिणी के बाद अवसर्पिणी — इन कालों का परिवर्तन होता ही रहता है।

68. तिलोयपण्णत्ती, 4/1636

जैन आगमों के अतिरिक्त **विष्णुपुराण**⁶⁹ में भी अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी शब्द का प्रयोग हुआ है। वहाँ लिखा है कि 'हे द्विज ! जम्बूद्वीपस्थ अन्य सात क्षेत्रों में भारतवर्ष के समान अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी अवस्था नहीं है।'

अवसर्पिणी के प्रथम तीन काल (भोगभूमि) -

अवसर्पिणी के प्रथम तीन कालों में भरत एवं ऐरावत क्षेत्रों में भोग भूमि रहती है। इन कालों में भोगों की प्रधानता होती है, इसीलिये जहाँ ये काल वर्तते हैं, उन्हें भोगभूमि कहते हैं। यहाँ सभी बाह्य सामग्री विविध प्रकार के कल्पवृक्षों से प्राप्त होती है। यहाँ सभी **युगलिया**⁷⁰ जन्म लेते हैं, और वे जीवन पर्यंत पति-पत्नी के समान रहते हैं। इन मनुष्यों की आयु के नौ मास शेष रहने पर ही स्त्री के गर्भ धारण होता है, शेष काल में किसी के भी गर्भ नहीं रहता, फिर नौ मास पूर्ण होने पर युगल (नर-नारी) भूशय्या पर सोकर गर्भ से युगल (पुत्र-पुत्री) के निकलने पर तत्काल ही मरण को प्राप्त हो जाते हैं।⁷¹ अंतिम समय में पुरुष को छींक और स्त्री को जँभाई आने से मृत्यु होती है।⁷² अथवा **आदिपुराण**⁷³ एवं **तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक**⁷⁴ के अनुसार आयु के अन्त में पुरुष को जम्हाई और स्त्री को छींक आने से मृत्यु होती है।

69. 'अपसर्पिणी न तेषां वै नचोत्सर्पिणी द्विज! नत्वेषाऽस्ति युगावस्थातेषु स्थानेषु सप्तसु।।'

- विष्णुपुराण, द्वि. अ. अ. 4/13 (जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिसूत्र, प्र., पृष्ठ-26 से साभार)

70. **युगलिया** = बालक-बालिका युगल रूप में

71. तिलोयपण्णत्ती, 4/379-380

72. वही, 4/381

73. आदिपुराण, 3/42

74. तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक, भाग-5, 3/31/पृ. 351/पं.4

भोगभूमि में नर-नारि दोनों के शरीर शरद ऋतु के मेघों समान स्वयं ही आमूल विलीन हो जाते हैं।⁷⁵ अथवा **तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक**⁷⁶ के अनुसार उनके शरीर विद्युत के समान विघट जाते हैं। यहाँ उत्पन्न हुये जीवों का कदलीघात मरण अथवा आयु का अपवर्तन नहीं होता।⁷⁷ इनका शरीर सप्त धातुमय होते हुये भी छेदा-भेदा नहीं जा सकता। अशुचिता से रहित होने के कारण उनके शरीर से मूत्र तथा विष्टा का आस्रव नहीं होता।⁷⁸ **आदिपुराण**⁷⁹ के अनुसार उन लोगों को पसीना भी नहीं आता। यहाँ शरीर में रोग भी नहीं होते, कोई किसी का शत्रु नहीं होता, सिंह और हाथी भी साथ रहते हैं, लोगों का लावण्य रंग और विलास से परिपूर्ण वय और यौवन भी नष्ट नहीं होते।⁸⁰

भोगभूमियों के सभी जीव स्वभाव से ही कोमल परिणामी होते हैं, इसलिये मरकर स्वर्ग में ही जाते हैं, इनकी स्वर्ग के सिवाय और कोई गति नहीं होती।⁸¹ यहाँ के मिथ्यादृष्टि मनुष्य-तिर्यच मरकर भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी देवों में तथा सम्यग्दृष्टि मनुष्य-तिर्यच मरकर सौधर्म युगल में उत्पन्न होते हैं।⁸²

75. तिलोयपण्णत्ती, 4/381

76. तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक, भाग-5, 3/31/पृ. 351/पं.5

77. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/361 (2) तत्त्वार्थसूत्र, 2/53

(3) सर्वार्थसिद्धि, 2/53/365/पृ. 148

78. वही, 4/387

79. आदिपुराण, 3/31

80. आचार्य पुष्पदन्त कृत महापुराण, भाग-1, सन्धि-2/8, पृष्ठ-31

81. आदिपुराण, 3/43

82. तिलोयपण्णत्ती, 4/382

इन कालखण्डों में जन्म लेने वाले मनुष्यादि प्राणियों का जीवन भोग प्रधान रहता है। इस समय प्रकृति इतनी सम्पन्न होती है कि उसके निवासियों को जीवन यापन के लिये किसी भी प्रकार के कृषि, मसि, व्यापार, उद्योग, शिल्प अथवा असि आदि कर्म की आवश्यकता नहीं होती। केवल प्रकृति से सहजरूप से प्राप्त भोग्य सामग्री का उपभोग करना ही उनका कार्य रहता है। ये सभी सामग्री उनको संकल्प मात्र से **कल्पवृक्षों** द्वारा प्राप्त हो जाती है।

कल्पवृक्षों का स्वरूप –

भोगभूमि में उत्पन्न हुये जीवों को मनवांछित पदार्थ कल्पवृक्ष से प्राप्त हो जाते हैं। पुण्यात्मा पुरुषों को मनचाहे भोग देने में समर्थ होने से ही ज्ञानियों ने इसकी कल्पवृक्ष संज्ञा सार्थक कही है।⁸³ इन भोगभूमियों में जन्में युगल कल्पवृक्षों द्वारा दी गई वस्तुओं को ग्रहण करके और विक्रिया द्वारा बहुत प्रकार के शरीर बना कर अनेक भोग भोगते हैं।⁸⁴ इनके भोगों की बाहुल्यता बताते हुये आचार्य यतिवृषभदेव लिखते हैं –

‘जुगलाणि अणंतगुणं, भोगं चक्कहर भोग लाहादो।’⁸⁵

अर्थात् ये युगलिया जीव चक्रवर्ती के भोग-लाभ की अपेक्षा अनंत गुणे भोग भोगते हैं। चक्रवर्ती तो कर्म भूमि में होते हैं, उन्हें विशेष कर्म करना पडता है, जब कि भोगभूमिया जीवों को सर्व

83. आदिपुराण, 3/38

84. तिलोयपण्णत्ती, 4/362

85. तिलोयपण्णत्ती, 4/361 (पूर्वार्द्ध)

सुविधायें कल्पवृक्षों से प्राप्त होती हैं, उन्हें मनवांछित भोग सामग्री प्राप्त हो जाती है। किन्तु फिर भी आचार्य नेमीचन्द्र लिखते हैं –

‘सुलहेसु वि णो तित्ती तेसिं पंचक्खविसएसु’⁸⁶

अर्थात् पंचेन्द्रिय भोगों की अतिसुलभता भी उन्हें तृप्ति प्रदान नहीं करती। कहने का तात्पर्य यह है कि भोगों की बाहुल्यता इस जीव को सुखी करने में समर्थ नहीं है।

जीवन पर्यंत भोगी जाने वाली ये समस्त भोग सामग्री उनको दस प्रकार के कल्पवृक्षों से प्राप्त होती है। जैन आगमों में इनकी **10 जातियाँ** बताई गई हैं, उनके नाम निम्नानुसार हैं –

1. पानांग 2. तूर्यांग 3. भूषणांग 4. वस्त्रांग 5. भोजनांग 6. आलयांग 7. दीपांग 8. भाजनांग 9. मालांग और 10. तेजांग आदि कल्पवृक्ष होते हैं।⁸⁷ इनके नाम किंचित् शब्द भेद से आदिपुराण⁸⁸ में निम्नानुसार मिलते हैं – 1. मद्यांग 2. तूर्यांग 3. विभूषांग 4. स्रगांग 5. ज्योतिरंग 6. दीपांग 7. गृहांग 8. भोजनांग 9. पात्रांग और 10. वस्त्रांग।

ये सभी वृक्ष अपने-अपने नाम के अनुसार ही फल प्रदान करने वाले हैं। तिलोयपण्णत्ती⁸⁹ लोकविभाग⁹⁰ आदि ग्रन्थों में इनका स्वरूप इसप्रकार बताया गया है –

86. त्रिलोकसार, गाथा-790 (उत्तरार्द्ध)

87. तिलोयपण्णत्ती, 4/346

88. आदिपुराण, 3/39-40

89. तिलोयपण्णत्ती, 4/347-357

90. लोकविभाग, 5/14-23

1. पानांग — इस जाति के कल्पवृक्ष भोगभूमिया जीवों को मधुर, सुस्वाद, छह रसों से युक्त, प्रशस्त, अतिशीतल तथा तुष्टि और पुष्टिकारक बत्तीस प्रकार के पेय दिया करते हैं।

2. तूर्यांग — इस जाति के कल्पवृक्ष उत्तम वीणा, पटु पटह, मृदंग, झालर, शंख, दुन्दुभि, भम्भा, भेरी और काहल इत्यादि भिन्न-भिन्न प्रकार के बाजे देते हैं।

3. भूषणांग/रत्नांग — इस जाति के कल्पवृक्ष पुरुषों के 16 प्रकार के और स्त्रियों के 14 प्रकार के कंकण, कटिसूत्र, हार, केयूर, मंजीर, कटक, कुण्डल, किरीट और मुकुट इत्यादि विविध उत्तम आभूषण प्रदान करते हैं।

4. वस्त्रांग — इस जाति के कल्पवृक्ष नित्य चीनपट (सूती वस्त्र) एवं उत्तम क्षौम (रेशमी) वस्त्र तथा मन और नेत्रों को आनन्दित करने वाले नाना प्रकार के अन्य वस्त्र देते हैं।

5. भोजनांग — इस जाति के कल्पवृक्ष सोलह प्रकार का आहार, सोलह प्रकार के व्यंजन, चौदह प्रकार के सूप (दाल आदि) चौवन के दुगुने (108) प्रकार के खाद्य पदार्थ, तीन सौ तिरेसठ प्रकार के स्वाद्य पदार्थ एवं तिरेसठ प्रकार के रस भेद पृथक्-पृथक् दिया करते हैं।

6. आलयांग — इस जाति के कल्पवृक्ष स्वस्तिक एवं नन्द्यावर्त आदि सोलह प्रकार के रत्नमय और सुवर्णमय रमणीय दिव्य भवन दिया करते हैं।

7. दीपांग — इस जाति के कल्पवृक्ष प्रासादों में शाखा,

प्रवाल, फल, फूल और अंकुरादि के द्वारा जलते हुये दीपकों के सदृश प्रकाश देते हैं।

8. भाजनांग — इस जाति के कल्पवृक्ष स्वर्ण एवं बहुत प्रकार के रत्नों से निर्मित थाल, झारी, कलश, गागर, चामर और आसनादिक प्रदान करते हैं।

9. मालांग — इस जाति के कल्पवृक्ष बल्ली, तरु, गुच्छों और लताओं से उत्पन्न हुए सोलह हजार भेदरूप पुष्पों की विविध मालायें देते हैं।

10. तेजांग/ज्योतिरांग — इस जाति के कल्पवृक्ष मध्य दिन के करोड़ों सूर्यों की किरणों के सदृश होते हुए नक्षत्र, चन्द्र और सूर्यादि की कान्ति का संहरण करते हैं।

ये कल्पवृक्ष वनस्पति रूप नहीं होते और इनका स्वरूप किसी व्यन्तर के समान भी नहीं होता। ये पृथ्वीरूप होते हुये भी जीवों को उनके पुण्य का फल प्रदान करने में समर्थ होते हैं। इनके माध्यम से भोगभूमि के जीव निरन्तर उत्तम सुखों को भोगते हैं और अत्यन्त संतोषपूर्वक अपना जीवन यापन करते हैं।

भरत एवं ऐरावत क्षेत्र में अवसर्पिणी के प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय काल में जीवों को प्राप्त सभी अनुकूलतायें इन कल्पवृक्षों के द्वारा ही प्राप्त होती हैं। सामान्यरूप में तीनों भोग भूमियों में भोग सामग्री की बाहुल्यता है, भोगों की ही प्रधानता रहती है, फिर भी तीनों के स्वरूप एवं परिस्थितियों में होने वाले परिवर्तन को हम पृथक्-पृथक् देखते हैं —

अवसर्पिणी का पहला काल (सुषमा-सुषमा) -

यह काल उत्तम भोगभूमि का काल कहलाता है। इस काल में भरत एवं ऐरावत क्षेत्रों की परिस्थितियाँ उत्तरकुरु एवं देवकुरु नामक शाश्वत भोगभूमियों के समान होती है। ध्यान रहे, **षट् कालों का परिवर्तन भरत एवं ऐरावत क्षेत्र के भी सभी खण्डों में नहीं होता, यह परिवर्तन इन क्षेत्रों के मात्र आर्यखण्डों में ही होता है।**

यह सुषमा-सुषमा नामक पहला काल चार कोड़ाकोड़ी सागर का कहा गया है। इस काल में भूमि रज, धूम, दाह और हिम से रहित साफ-सुथरी, ओलावृष्टि तथा बिच्छू आदि कीड़ों के उपसर्ग से रहित, निर्मल दर्पण के समान, निन्द्यपदार्थों से रहित दिव्य बालुकामय होती है, जो तन-मन और नेत्रों को सुख उत्पन्न करती है।⁹¹ चारों ओर पंच वर्ण युक्त, मृदुल एवं सुगन्ध से परिपूर्ण सुन्दर छोटे-छोटे घास के मैदान होते हैं। झील, तालाब, वापिका तथा नदियाँ स्वच्छ शीतल जल से परिपूर्ण तथा मकरादि जलचर जीवों से रहित होती हैं और उन्हीं जलाशयों के किनारे रत्नों की सीढ़ियों से युक्त शय्या एवं आसनों के समूह से परिपूर्ण भोगभूमियों के प्राकृतिक भवन, प्रासाद आदि आवास-स्थल बने होते हैं।⁹²

इस काल में शंख, चींटी, खटमल, गोमक्षिका, डाँस, मच्छर और कृमि आदि विकलेन्द्रिय जीव नियम से नहीं होते। यहाँ असंज्ञी भी नहीं होते, स्वामी और भृत्य का भेद भी नहीं होता,

91. तिलोयपण्णत्ती 4 / 324-325

92. वही, 4 / 326, 328-329

कलह एवं भीषण युद्ध आदि तथा ईर्ष्या और रोग आदि भी नहीं होते। यहाँ अन्धकार नहीं होने से दिन-रात का भेद नहीं है। गर्मी और सर्दी की वेदना भी नहीं है। निन्दा, परस्त्री रमण और परधन हरण आदि दुष्कृत्य भी यहाँ नहीं होते।⁹³

इस काल में उत्पन्न हुये युगल चौथे दिन बेर के बराबर आहार ग्रहण करते हैं।⁹⁴ इनके शरीर की **ऊँचाई** 6000 धनुष एवं **आयु** तीन पल्य प्रमाण होती है। पुरुष एवं स्त्रियों दोनों के पृष्ठ भाग में दो सौ छप्पन **हड्डियाँ**⁹⁵ होती है। यहाँ जन्मे पुरुषों के लिये लोकविभाग में **'नवसहस्त्रेभविक्रमा'**⁹⁶ शब्द का प्रयोग करके नौ हजार हाथियों के सदृश बल की बात कही है। ये किंचित् लाल हाथ-पैर वाले, नव चम्पक के फूलों की सुगन्ध से व्याप्त, मार्दव और आर्जव गुणों से संयुक्त, मन्दकषायी, सुशील होते हैं। शरीर वज्रवृषभनाराच संहनन से युक्त, समचतुरस्र संस्थान वाला होता है। ये उदित होते हुये सूर्य सदृश तेजस्वी, कवलाहार करते हुये भी मल-मूत्र से रहित होते हैं। नर-नारी के अतिरिक्त इनका और कोई परिवार नहीं होता।⁹⁷ उत्तम मुकुट को धारण करने वाले यहाँ के पुरुष इन्द्र से भी अधिक सुन्दराकार होते हैं और मणिमय कुण्डलों से विभूषित कपोलों वाली स्त्रियाँ अप्सराओं के सदृश अत्यन्त सुन्दर होती हैं।⁹⁸

93. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4 / 335-337 (2) लोकविभाग 5 / 29-30

94. आदिपुराण, 3 / 30

95. लोकविभाग, 5 / 11

96. वही, 5 / 26

97. तिलोयपण्णत्ती, 4 / 338-344

98. वही, 4 / 363

आयु पूर्ण होने से 9 माह पूर्व ही स्त्री को गर्भ धारण होता है। तथा युगल पुत्र-पुत्री को जन्म देकर उनका मरण हो जाता है। बालक-बालिका के शय्या पर सोते हुये अपना अंगूठा चूसने में तीन दिन व्यतीत हो जाते हैं, पश्चात् तीन दिन में वे बैठना सीख जाते हैं, फिर तीन दिन तक अस्थिर गमन और अगले तीन दिनों में दौड़ने लगते हैं। फिर क्रमशः कलागुणों की प्राप्ति, तरुण अवस्था और सम्यक्त्व प्राप्ति की योग्यता में तीन-तीन दिन व्यतीत होते हैं।⁹⁹ इसप्रकार उत्तम भोगभूमि में जन्मे मनुष्य मात्र 21 दिनों में यौवन से परिपूर्ण¹⁰⁰ होकर सम्यग्दर्शन प्राप्ति के योग्य हो जाते हैं।

सम्यग्दर्शन प्राप्ति के कारणों की चर्चा करते हुये **आचार्य यतिवृषभ**¹⁰¹ ने तीन कारण बताये हैं — (1) जाति स्मरण ज्ञान (2) देवों द्वारा प्रतिबोध (3) चारणऋद्धि धारी मुनिराज का सदुपदेश।

ये सब उत्तम युगल पारस्परिक प्रेम में अत्यन्त मुग्ध रहा करते हैं, इसलिये उनके श्रावकोचित व्रत संयम नहीं होते।¹⁰² जैसे-जैसे सुषमा-सुषमा नामक प्रथम काल व्यतीत होता जाता है, वैसे-वैसे मनुष्य, तिर्यचों का शरीर, आयु, बल, ऋद्धि आदि भी कम होते रहते हैं। इसप्रकार चार कोड़ाकोड़ी सागर में यह काल पूर्ण हो जाता है।

99. तिलोयपण्णत्ती, 4 / 383-384

100. 'दिवसैरेकविंशत्या पूर्यन्ते यौवनेन च।'

— लोकविभाग, 5 / 25 (पूर्वार्द्ध)

101. तिलोयपण्णत्ती, 4 / 385

102. 'तेसुं सावय वद संजमो णत्थि' — वही, 4 / 390

अवसर्पिणी का दूसरा काल (सुषमा) —

यह काल मध्यम भोगभूमि का काल कहलाता है। इस काल में भरत एवं ऐरावत क्षेत्रों की परिस्थितियाँ हरि क्षेत्र¹⁰³ एवं रम्यक् क्षेत्र नामक शाश्वत भोगभूमियों के समान होती है।

तीन कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण सुषमा नामक इस दूसरे काल के प्रारंभ में मनुष्यों के शरीर की **ऊँचाई** 4000 धनुष (दो कोस), **आयु** दो पल्य और शरीर की प्रभा पूर्णचन्द्र सदृश होती है। इनके पृष्ठभाग में एक सौ अट्टाईस **हड्डियाँ** होती है। स्त्रियाँ अप्सराओं सदृश और पुरुष देवों सदृश होते हैं। इस काल में मनुष्य समचतुरस्र संस्थान ये युक्त होते हुए दो दिन बाद तीसरे दिन बहेड़ा फल बराबर अमृतमय आहार करते हैं।¹⁰⁴

जन्म के उपरान्त युवा होने तक का जो क्रम उत्तम भोगभूमि में 3-3 दिन के अन्तराल से सात चरणों में बताया गया था, वही क्रम यहाँ मध्यम भोगभूमि (सुषमा नामक दूसरे काल) में 5-5 दिन के विकास क्रम में होता है। अर्थात् बालकों के शय्या पर सोते हुए अपना अंगूठा चूसने, बैठने, अस्थिर गमन, स्थिर गमन, कलागुणों की प्राप्ति, तारुण्य और सम्यक्त्व ग्रहण की योग्यता — इनमें प्रत्येक अवस्था में पाँच-पाँच दिन लगते हैं।¹⁰⁵ इस प्रकार यहाँ के जीव जन्म के पश्चात् मात्र **35 दिन** में सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के योग्य हो जाते हैं।

103. 'शेषो विधिस्तु निश्शेषो हरिवर्षसमो मतः' — आदिपुराण 3 / 50

104. तिलोयपण्णत्ती, 4 / 400-402

105. वही, 4 / 403-404

भोगभूमि संबंधी शेष वर्णन उत्तम भोगभूमि के समान ही है। इस काल के प्रारंभ से अंत तक की परिस्थितियों में भी अवसर्पिणी काल होने से बल, आयु, शरीर आदि का ह्रास देखा जाता है। इस प्रकार तीन कोड़ाकोड़ी सागर व्यतीत होने पर यह काल समाप्त हो जाता है।

अवसर्पिणी का तीसरा काल (सुषमा-दुषमा) -

यह काल जघन्य भोगभूमि का काल कहलाता है। इस काल में भरत एवं ऐरावत क्षेत्रों की परिस्थितियाँ हैमवत क्षेत्र एवं हैरण्यवत क्षेत्र नामक शाश्वत भोगभूमियों के समान होती है। यहाँ भी सम्पूर्ण कार्य कल्पवृक्षों से ही सम्पन्न होते हैं।

तिलोयपण्णत्ती¹⁰⁶ एवं **आदिपुराण**¹⁰⁷ में इस काल का स्वरूप स्पष्ट करते हुये लिखा है कि सुषमा-दुषमा नामक यह काल दो कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण है। इसके प्रारंभ में मनुष्यों की **ऊँचाई** दो हजार धनुष (एक कोस), **आयु** एक पल्य और वर्ण प्रियंगु फल सदृश होता है। इस काल में स्त्री-पुरुषों के पृष्ठ भाग में चौंसठ **हड्डियाँ** होती है। यहाँ के मनुष्य एक दिन के अन्तराल से आँवले बराबर अमृतमय आहार का ग्रहण करते हैं।

इस काल में जन्मे युगल का शय्या पर अंगूठा चूसने में 7 दिन का काल व्यतीत हो जाता है। शेष परिस्थितियाँ - बैठना, अस्थिर गमन, स्थिर गमन, कला गुणों की प्राप्ति, तारुण्य और सम्यक्त्व ग्रहण की योग्यता - इन सब अवस्थाओं में क्रमशः

106. तिलोयपण्णत्ती, 4/407-410

107. आदिपुराण, 3/53-54

सात-सात दिन लगते हैं।¹⁰⁸ इस प्रकार इस काल में उत्पन्न हुये जीवों में मात्र **49 दिन** में ही सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की योग्यता हो जाती है।

यहाँ सभी जीवों को अपने पुण्य प्रमाण कल्पवृक्षों से अनुकूलताओं की प्राप्ति होने के कारण कोई चोर नहीं होता। यहाँ किसी की किसी से दुश्मनी नहीं होती। यहाँ शीत, आताप, प्रचण्ड वायु एवं वर्षा नहीं होती, इसलिये प्राकृतिक वातावरण मनोरम रहता है।

अवसर्पिणी के तीनों काल (भोगभूमि) एक नजर में -

विषय	सुषमा-सुषमा	सुषमा	सुषमा-दुषमा
भूमि रचना	उत्तम भोगभूमि	मध्यम भोगभूमि	जघन्य भोगभूमि
काल प्रमाण	4 को0को0सागर	3 कोड़ाकोड़ी	2 कोड़ाकोड़ी
उत्कृष्ट आयु	3 पल्योपम	2 पल्योपम	1 पल्योपम
जघन्य आयु	2 पल्योपम	1 पल्योपम	1कोटिपूर्व+1समय
उत्कृष्ट ऊँचाई	3 कोस	2 कोस	1 कोस
जघन्य ऊँचाई	2 कोस	1 कोस	500 धनुष
पृष्ठ हड्डियाँ	256	128	64
आहार प्रमाण	बेर बराबर	बहेड़ा बराबर	आँवला प्रमाण
आहार अंतराल	3 दिन बाद	2 दिन बाद	1 दिन बाद
शरीर का रंग	सूर्यप्रभा सदृश	पूर्ण चन्द्रप्रभा	प्रियंगु फल सदृश
सम्यक्त्व पात्रता	21 दिन बाद	35 दिन बाद	49 दिन बाद

108. तिलोयपण्णत्ती, 4/411-412

भोगभूमि के तीनों कालों में जिसप्रकार मनुष्यों के युगल कल्पवृक्ष सम्बन्धी आहारों से सन्तुष्ट होकर प्रेमपूर्वक क्रीड़ा करते हैं, उसीप्रकार सन्तुष्ट चित्त के धारक **तिर्यचों के जोड़े** भी प्रेमपूर्वक क्रीड़ा करते हैं। उस समय कहीं सिंहों के युगल, कहीं हाथियों के युगल, कहीं ऊँटों के युगल, कहीं शूकरों के युगल और कहीं मद से धीमी चाल चलने वाले व्याघ्रों के युगल क्रीड़ा करते हैं। कहीं मनुष्यों के बराबर आयु को धारण करने वाले गाय, घोड़े और भैंसों के जोड़े अपनी इच्छानुसार अत्यधिक क्रीड़ा करते हैं।¹⁰⁹ वहाँ रहने वाले व्याघ्रादि भूमिचर और काक आदि नभचर तिर्यच मांसाहार के बिना कल्पवृक्षों के मधुर फल भोगते हैं। मनुष्यों के समान तिर्यचों के भी अपनी-अपनी योग्यतानुसार फल, कन्द, तृण और अंकुरादि के भोग होते हैं।¹¹⁰

इन कालों में पुरुष स्त्री को **आर्या** कहकर और स्त्री पुरुष को **आर्य** कहकर पुकारती थी। आर्या और आर्य भोगभूमिज स्त्री-पुरुषों के साधारण नाम हैं। उस समय सबकी एक ही उत्तम जाति होती है। वहाँ ब्राह्मण आदि चार वर्ण नहीं होते और न ही असि-मसि आदि षट्कर्म होते हैं। वहाँ न सेवक-स्वामी का सम्बन्ध होता है और न वेषधारी ही। वहाँ के प्राणी सब विषयों में मध्यस्थ रहते हैं, वहाँ न मित्र होते हैं और न शत्रु। वे सभी स्वभाव से ही अल्पकषायी होते हैं।¹¹¹

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि भोगभूमि का काल

उत्तम काल है, जहाँ प्राणियों को सर्व प्रकार की अनुकूलतायें मिलती हैं, किन्तु यह **प्रसिद्ध कहावत** है कि **'सबै दिन जात न एक समाना'** अर्थात् सभी दिन एक समान नहीं रहते। भोगभूमि का काल भी भरत एवं ऐरावत क्षेत्रों में एकसा नहीं रहता, समय के साथ-साथ सब कुछ बदल जाता है। भोगभूमि का काल उत्तम से मध्यम एवं जघन्य होकर अब समापन की ओर बढ़ता है। इसमें लगभग 9 कोड़ाकोड़ी सागर का काल व्यतीत हो जाता है।

तृतीय काल के अन्त में धीरे-धीरे कल्पवृक्षों की फलदान सामर्थ्य कम होने लगती है। अब युग परिवर्तन होना है, भोगभूमि समाप्त और कर्मभूमि का प्रारंभ होगा। इस संधि काल में सृष्टि में बहुत बड़े प्राकृतिक परिवर्तन होने लगते हैं, इनसे भयभीत प्रजा की समस्याओं को दूर करने के लिये कुल परम्परा से धरातल पर विशिष्ट पुण्यशाली महापुरुषों का जन्म होता है, जिन्हें जैन परम्परा में कुलकरों के नाम से जाना जाता है।

कुलकर व्यवस्था -

भोगभूमि के अंतिम चरण में भरत एवं ऐरावत क्षेत्रों के आर्य खण्डों की भूमि पर अत्यन्त युगान्तरकारी प्राकृतिक एवं जैविक परिवर्तन होते हैं। इन परिवर्तनों से अनभिज्ञ एवं भयभीत मानव जाति को, इन परिवर्तनों के अनुकूल समंजित होने का उपदेश देने वाले कुछ महापुरुषों का जन्म तृतीय काल के अंत में भरत एवं ऐरावत क्षेत्रों में होता है, इन्हें जैन ग्रन्थों में मुख्यरूप से कुलकर कहकर पुकारा है, इनके लिये **हिन्दु पुराणों** में **मनु** शब्द का प्रयोग मिलता है। जैन आगमों में कहा है कि जब तृतीय काल

109. हरिवंश पुराण, 7/99-101

110. तिलोयपण्णत्ती, 4/396-395

111. हरिवंश पुराण, 7/102-104

समाप्ति में पल्य का आठवाँ भाग शेष रहता है, तब क्रम से 14 कुलकर उत्पन्न होते हैं।

सुषमादुषमा नामक तीसरा काल समाप्त होने में जब पल्य का आठवाँ भाग प्रमाण काल शेष रह गया तथा कल्पवृक्ष भी क्रम-क्रम से कम होने लगे तब इस भरत क्षेत्र की दक्षिण दिशा में गंगा और सिन्धु नदियों के बीच आर्यखण्ड में 14 **कुलकरों** की उत्पत्ति हुई।¹¹² ये प्रजा के जीवन के उपाय का मनन करने अर्थात् जानने से **मनु** तथा आर्य पुरुषों के कुलों की रचना करने से **कुलकर** कहलाते थे, इन्होंने अनेक वंश स्थापित किये थे, अतः कुलों को धारण करने से **कुलधर** कहलाते थे तथा युग के आदि में होने से ये **युगादिपुरुष** भी कहे जाते थे।¹¹³ आचार्य यतिवृषभ¹¹⁴ कहते हैं — ये सब कुलों के धारण करने से **कुलधर** नाम से और कुलों के करने में कुशल होने से **कुलकर** नाम से भी लोक में प्रसिद्ध हैं। वे इनकी **मनुसंज्ञा की सार्थकता** बताते हुये कहते हैं — ये अपने अवधिज्ञान एवं जातिस्मरण ज्ञान से भोगभूमिज मनुष्यों को जीवन के उपाय बताते हैं, इसलिये मुनिन्द्रों द्वारा **मनु** कहे जाते हैं।¹¹⁵ स्थानांग सूत्र की वृत्ति में आचार्य अभयदेव¹¹⁶ ने लिखा है कि कुल की व्यवस्था का संचालन करने वाला प्रकृष्ट प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति **कुलकर** कहलाता था।

जैन एवं हिन्दू दोनों ही परम्पराओं में इनकी संख्या मुख्यरूप

112. हरिवंशपुराण, 7 / 122-124

113. (1) आदिपुराण, 3 / 211-212, (2) लोकविभाग, 5 / 120-121

114. तिलोयपण्णत्ती, 4 / 516

115. तिलोयपण्णत्ती, 4 / 515

116. स्थानांगवृत्ति, 767 / 518 / 1 (जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति सूत्र, प्रस्तावना, पृष्ठ-28 से साभार)

से 14 स्वीकार की गई है। यद्यपि हिन्दु पुराणों में भी चतुर्दश मनुओं एवं उनके मन्वन्तरों का वर्णन विस्तारपूर्वक मिलता है, किन्तु जैनोक्त वर्णन से वह पर्याप्त भिन्नता रखता है। दोनों परम्पराओं में उनकी उत्पत्तिकाल के संबंध में मतभेद हैं और साथ ही उनके नाम, धाम एवं काम के सम्बन्ध में भी पग-पग पर भिन्नता है।

चौदह कुलकरों के नाम त्रिलोकसार¹¹⁷ एवं आदिपुराण¹¹⁸ के अनुसार इसप्रकार हैं — प्रतिश्रुति, सन्मति, क्षेमंकर, क्षेमन्धर, सीमंकर, सीमन्धर, विमलवाहन, चक्षुष्मान्, यशस्वी, अभिचन्द्र, चन्द्राभ, मरुदेव, प्रसेनजित्, नाभिराय।

त्रिलोकसार¹¹⁹ एवं जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति सूत्र¹²⁰ में नाभिराय के पुत्र ऋषभदेव को पन्द्रहवाँ कुलकर बताया है। लोकविभाग¹²¹ एवं आदिपुराण¹²² में नाभिराय के पुत्र ऋषभदेव एवं उनके पुत्र भरत को भी पन्द्रहवें एवं सोलहवें कुलकर के रूप में स्वीकार किया है, इन सभी **कुलकरों** के लिये आदिपुराण में **मनु** शब्द का प्रयोग भी किया गया है।

ये सभी कुलकर पूर्वभव में विदेह क्षेत्रों में उच्चकुलीन महापुरुष थे, वहाँ पर सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के पहले ही भोगभूमि की आयु बांधकर तीसरे काल में भरत क्षेत्र में उत्पन्न हुये।¹²³ इन 14

117. त्रिलोकसार, गाथा-792-793

118. आदिपुराण, 3 / 229 से 232

119. त्रिलोकसार, गाथा-793

120. **इमे पण्णरस कुलगरा समुप्पज्जित्था** — जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति सूत्र / 2 / 35 / पृ. 54

121. लोकविभाग, 5 / 122

122. **वृषभो भरतेशश्च तीर्थचक्रभृतौ मनु।** — आदिपुराण, 3 / 232

123. आदिपुराण, 3 / 207-209

कुलकरों में से कितने ही कुलकरों को जातिस्मरण था और कितने ही अवधिज्ञान के धारक थे।¹²⁴ अतः अपने ज्ञान की विशेषता से प्रजा की समस्याओं का समाधान किया करते थे।

भोगभूमि में सदैव कल्पवृक्षों का प्रकाश रहता था, अतः सूर्यचन्द्रादि दिखाई नहीं देते थे, अब कल्पवृक्ष समाप्त हो जाने से वे सूर्यचन्द्रादि दिखाई देने लगे, उन्हें देखकर लोगों को भयंकर भय उत्पन्न हुआ। भोगभूमि में पुत्र-पुत्री का जन्म होते ही माता-पिता का मरण हो जाता था, वे लोग बच्चों का मुख नहीं देखपाते थे, अब बच्चों का मुख देखकर डरने लगे – इसप्रकार की अनेक समस्याओं का समाधान कुलकरों के माध्यम से किया गया।

कुलकरों के समय हकार, मकार और धिक्कार (हा-मा-धिक) – ये तीन नीतियाँ दण्ड के रूप में प्रचलित हुईं। ज्यों-ज्यों काल व्यतीत होता चला गया, त्यों-त्यों मानव के अन्तर्मानस में परिवर्तन होता गया और अधिकाधिक कठोर दण्ड की व्यवस्था की गई।

कुल परम्परा से हुए एक के पुत्र एक चौदह कुलकरों के सामने उपस्थित विविध प्रकार की समस्याओं/परिस्थितियों और उनके उपदेश द्वारा दिये गये विशिष्ट समाधान को तिलोयपण्णत्ती¹²⁵ में 83 गाथाओं में, हरिवंशपुराण¹²⁶ में 46 श्लोकों में तथा आदिपुराण¹²⁷ में लगभग 100 श्लोकों में बहुत विस्तार से बताया है, यहाँ उस सम्पूर्ण विषय वस्तु को **संक्षिप्त चार्ट** के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

124. आदिपुराण, 3/210

125. तिलोयपण्णत्ती, 4/428-510

126. हरिवंश पुराण, 7/125 से 170

127. आदिपुराण, 3/55-151, 164

क्रम	नाम	समस्या / परिस्थिति	उपदेश / समाधान
1.	प्रतिश्रुति	आकाश में चन्द्र-सूर्य को देखकर प्रजा भयभीत थी।	ये चन्द्र-सूर्य नित्य ही हैं, तेजांग जाति के कल्पवृक्षों का तेज मंद पडने से अब प्रगट हुये हैं, इसप्रकार सूर्य-चन्द्र का परिचय देकर प्रजा का भय दूर किया।
2.	सन्मति	सूर्य के अस्त होने पर अंधकार और तारा पंक्तियों को देखने से प्रजा में उत्पन्न भय।	तेजांग कल्पवृक्ष सर्वथा नष्ट हो चुके हैं, ऐसा ज्ञान कराकर अंधकार और तारागणों का परिचय देकर भय दूर किया।
3.	क्षेमंकर	व्याघ्रादि तिर्यचों में क्रूर परिणामों को देखकर प्रजा में भय व व्याकुलता।	काल के विकार से ये तिर्यच क्रूरता को प्राप्त हुये हैं, अतः अब इनका विश्वास कदापि नहीं करना, ऐसा दिव्य उपदेश दिया।
4.	क्षेमन्धर	क्रूरता को प्राप्त सिंहादि तिर्यचों द्वारा मनुष्यों का भक्षण।	उन क्रूर तिर्यचों से अपनी सुरक्षा के उपायभूत दण्डादि रखने का उपदेश दिया।
5.	सीमंकर	कल्पवृक्ष अल्प फलवाले हुये, मनुष्यों में लोभ की वृद्धि होने से उनके स्वामित्व में परस्पर झगड़ा।	कल्पवृक्षों की सीमाओं के निर्धारण द्वारा पारस्परिक संघर्ष पर रोक।
6.	सीमन्धर	कल्पवृक्षों की अत्यन्त हानि के कारण कलह में वृद्धि।	कल्पवृक्षों को चिन्हित करके उनके स्वामित्व का विभाजन।
7.	विमलवाहन	गमनागमन में बाधा/पीड़ा का अनुभव।	हाथी, घोड़ा आदि की सवारी तथा वाहनों के प्रयोग का उपदेश।

क्रम	नाम	समस्या / परिस्थिति	उपदेश / समाधान
8.	चक्षुष्मान्	अबतक सन्तान का मुख देखने से पूर्व ही माता-पिता का मरण हो जाता था, पर अब सन्तान का मुख देखने के बाद मरण होने लगा, अतः अपने ही बालकों को देखकर भयभीत होना।	सन्तान का परिचय देकर भय दूर किया।
9.	यशस्वी	भोगभूमिज युगल बालकों का नाम रखने तक जीवित रहने लगे।	बालकों का नामकरण की शिक्षा।
10.	अभिचन्द्र	माता-पिता बालकों का बोलना व खेलना देखने तक जीवित रहने लगे।	शिशुओं का रुदन रोकने हेतु उपदेश तथा उन्हें बोलना एवं खेलना सिखाने की शिक्षा।
11.	चन्द्राभ	शीत बढ़ गई, तुषार छाने लगा तथा अतिवायु चलने लगी थी।	सूर्य की किरणों से शीत निवारण की शिक्षा तथा कर्मभूमि की निकटता का ज्ञान।
12.	मरुदेव	मेघ, वर्षा, बिजली, नदी, पर्वत आदि के दर्शन।	नौका, छाता आदि के प्रयोग का उपदेश तथा पर्वत पर सीढ़ियाँ बनाने की शिक्षा।
13.	प्रसेनजित्	वर्तिपटल (जरायु) से वेष्टित युगल शिशु का जन्म देखकर माता-पिता भयभीत।	वर्तिपटल (जरायु) दूर करने का उपदेश।
14.	नाभिराय	बालकों का नाभिनाल अत्यन्त लम्बा होने लगा तथा कल्पवृक्षों का अत्यन्त अभाव हो गया। पृथ्वी पर औषधि, धान्य व फलों की उत्पत्ति होने लगी।	नाभिनाल काटने का एवं आजीविका के उपाय का उपदेश, औषधियों व धान्य आदि की पहिचान तथा उनके प्रयोग की शिक्षा।

अवसर्पिणी के अंतिम तीन काल (कर्म भूमि) -

जिस भूमि में असि, मसि, कृषि, विद्या, शिल्प, वाणिज्य आदि कर्म की प्रधानता हो, वह **कर्मभूमि** है। इसके अन्तर्गत जिन दुःषमादि तीन काल विभागों की गणना की जाती है, वे विभाग कृषि आदि षट्कर्म प्रधान होने के कारण कर्मभूमि के नाम से अभिहित किये जाते हैं।

जैन परम्परानुसार वर्तमान कल्पार्द्ध में कर्मभूमि की व्यवस्था के आद्य संस्थापक राजा ऋषभदेव थे। उन्होंने ही जीविकोपार्जन के लिये भारतवासियों को सर्वप्रथम षट्कर्मा का उपदेश दिया। अंतिम कुलकर नाभिराय के पुत्र प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव एवं उनके पुत्र प्रथम चक्रवर्ती सम्राट भरत भी सुषमा-दुषमा नामक तीसरे काल में ही उत्पन्न हुये तथा उसी काल में ही निर्वाण को प्राप्त हुये। यद्यपि तृतीय काल भोगभूमि का काल है, तथापि इस काल के अंतिम चरणों में ही कर्मभूमि का प्रारंभ हो गया था।

अवसर्पिणी का चतुर्थ काल (दुषमा-सुषमा) -

अवसर्पिणी काल के प्रारंभ से 9 कोड़ाकोड़ी सागर तक चलता हुआ भोगभूमि का काल समाप्त होने के पश्चात् 1 कोड़ाकोड़ी सागर में 42000 वर्ष कम प्रमाण वाला दुषमा-सुषमा नामक चौथा काल प्रारंभ होता है। यह काल ऋषभदेव के निर्वाण जाने के 3 वर्ष, 8 माह 15 दिन पश्चात् प्रारंभ हुआ।¹²⁸

इस काल में कल्पवृक्षों का पूर्णतः अभाव होता है और उनके

स्थान पर नाना प्रकार की वनस्पतियाँ स्वयमेव उगने लगती हैं। पहले तो मानव जीवन इन्हीं पर आधारित रहा, किन्तु धीरे-धीरे जब इनका भी अभाव होने लगा तब मानव ने कृषि आदि श्रमपूर्ण कार्यों से अपनी आवश्यकतानुसार उनका उत्पादन आदि प्रारम्भ कर दिया। कृषि आदि षट् कर्मों की मुख्यता से ही इस काल को कर्मभूमि का काल कहा गया है।

इस काल के प्रारंभ में **उत्कृष्ट आयु** 1 कोटि पूर्व की होती है, शरीर की **उत्कृष्ट अवगाहना** (ऊँचाई) 525 धनुष तथा पृष्ठ भाग की **हड्डियाँ** अड़तालीस होती हैं।¹²⁹ लोकविभाग¹³⁰ में इनकी **उत्कृष्ट ऊँचाई** 500 धनुष बताई है। इनकी उत्कृष्ट आयु लगभग एक कोड़ाकोड़ी सागर काल तक क्रमशः घटते-घटते अन्त में 120 वर्ष रह जाती है। कर्म भूमि के सभी मनुष्य, तिर्यचों की जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्त होती है।¹³¹

तरेसठ शलाका पुरुष —

इस चतुर्थ काल में भरत एवं ऐरावत क्षेत्र में पुण्योदय से मनुष्यों में श्रेष्ठ और सम्पूर्ण लोक में प्रसिद्ध 63 शलाका पुरुष — 24 तीर्थकर, 12 चक्रवर्ती, 9 बलभद्र, 9 नारायण और 9 प्रतिनारायण उत्पन्न होते हैं।¹³²

तीर्थकर — जो धर्मतीर्थ का उपदेश देते हैं, समवशरण

129. तिलोयपण्णत्ती, 4/1288

130. लोकविभाग, 5/143

131. त्रिलोकसार, गाथा-330

132. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/517-518 (2) लोकविभाग, 5/142

आदि विभूतियों से युक्त होते हैं और जिनके तीर्थकर नामकर्म¹³³ नामका महापुण्य का उदय होता है, उन्हें तीर्थकर कहते हैं। चार घातिया कर्मों का अभाव होने से इनकी अरिहंत संज्ञा है। इनके जीवन में सर्वोत्कृष्ट पुण्योदय होने से आचार्य कुन्दकुन्ददेव¹³⁴ ने इनके लिये **पुण्यफलां अरहंता** शब्द का प्रयोग किया है। आचार्य प्रभाचन्द्र तीर्थकर का स्वरूप स्पष्ट करते हुये लिखते हैं —

‘तीर्थकृतः संसारोत्तरणहेतुभूतत्वात्तीर्थमिव तीर्थमागमः तत्कृतवतः।’¹³⁵ अर्थात् संसार से तारने के कारणभूत हो, वह तीर्थ है, ऐसा तीर्थ आगम है, उसके कर्ता तीर्थकर हैं। धर्मतीर्थ को चलाने वाले होने से ये तीर्थकर कहलाते हैं। इनकी बहुत बड़ी धर्मसभा होती है, जिसे समवशरण के नाम से जाना जाता है। आचार्य यतिवृषभ¹³⁶ कहते हैं — इसमें पूर्वादि प्रदक्षिणा रूप से 12 कोठे (सभा) होते हैं। जिनमें उनके प्रमुख शिष्य गणधर एवं मुनिराज, चार प्रकार के देव, चार प्रकार की देवियाँ, आर्यिका व स्त्रियाँ, पुरुष एवं तिर्यच बैठकर धर्मोपदेश का लाभ प्राप्त करते हैं। तिर्यच गति के हाथी, सिंह, व्याघ्र और हिरणादि भी परस्पर बैर को छोड़कर समवशरण में मित्र भाव से बैठते हैं।

तीर्थकर 24 होते हैं। ये सभी जैनधर्म के प्रवर्तक हैं, जो प्राणी मात्र को समान बताकर, सबके प्रति समभाव का उपदेश देते हैं।

133. तीर्थकर नामकर्म — ज्ञानावरण आदि आठ कर्मों में नामकर्म की एक प्रकृति। इस कर्म के उदय में तीर्थकर बनते हैं।

134. प्रवचनसार, गाथा-45

135. समाधितंत्र, श्लोक-2 संस्कृत टीका

136. तिलोयपण्णत्ती, 4/865-872 का सार

चक्रवर्ती — प्रत्येक चतुर्थ काल में 12 चक्रवर्ती होते हैं। वर्तमान चतुर्थ काल में भरत क्षेत्र में भरत, सगर, मघवा, सनत्कुमार, शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ, अरनाथ, सुभौम, पद्म, हरिषेण, जयसेन और ब्रह्मदत्त — ये 12 चक्रवर्ती¹³⁷ छह खण्डरूप पृथ्वीमंडल को जीतने वाले परमप्रतापी पुरुष हुये हैं। इन सभी चक्रवर्तियों का वैभव तिलोयपण्णत्ती, अध्याय-4, गाथा 1382 से 1409 तक बहुत विस्तार से बताया है। इनके 96000 रानियाँ, 84 लाख हाथी, 18 करोड़ घोड़े, कई करोड़ विद्याधर, 88000 म्लेच्छ राजा, 32000 मुकुटबद्ध राजा, इतनी ही नाट्यशालायें, इतनी ही संगीत शालायें, 14 रत्न, 9 निधियाँ, 32000 अंगरक्षक देव, छत्र, 32 चँवर आदि होते हैं। इन समस्त दिव्य वैभव से युक्त होकर वे दशांग भोग भोगते हैं।

बलदेव, नारायण व प्रतिनारायण — वर्तमान अवसर्पिणी के चतुर्थ काल में तीर्थंकर एवं चक्रवर्तियों के समान ही विशिष्ट पुण्यशाली 9 बलदेव, 9 नारायण एवं 9 प्रतिनारायण हुये हैं। तिलोयपण्णत्ती¹³⁸ में उन सभी के नामों का उल्लेख मिलता है — विजय, अचल, सुधर्म, सुप्रभ, सुदर्शन, नन्दी, नन्दिमित्र, राम और पद्म — ये नौ **बलदेव** हुये हैं। त्रिपृष्ठ, द्विपृष्ठ, स्वयंभू, पुरुषोत्तम, पुरुषसिंह, पुण्डरीक, दत्त, नारायण (लक्ष्मण) और कृष्ण — ये नौ **नारायण (विष्णु)** हैं तथा अश्वग्रीव, तारक, मेरक, मधुकैटभ, निशुंभ, बलि, प्रहरण, रावण और जरासंध — ये नौ प्रतिनारायण (प्रतिशत्रु) हैं। इनके पर्यायान्तर के संबंध में आचार्य यतिवृषभ का

137. तिलोयपण्णत्ती, 4 / 522-523

138. वही, 4 / 524-526 तथा 4 / 1423-1425

मूल कथन निम्नानुसार है —

'उड्ढंगामी सव्वे बलदेवा केसवा अधोगामी'¹³⁹ अर्थात् सभी बलदेव नियम से ऊर्ध्वगामी (स्वर्ग या मोक्षगामी) होते हैं और सभी नारायण नियम से अधोगामी (नरकजानेवाले) होते हैं तथा **'तहेव पडिसत्तू'**¹⁴⁰ शब्द का प्रयोग कर वे प्रतिनारायण की भी नियम से अधोगति बताते हैं।

इनमें नारायण नियम से बलदेव के छोटे भाई होते हैं।¹⁴¹ प्रतिनारायण तीन खण्ड का शासक होता है। जैन आगमों¹⁴² के अनुसार सभी प्रतिनारायणों की मृत्यु नारायणों के द्वारा ही होती है। उसे मारकर ही नारायण तीन खण्डों का अधिपति हो जाता है, उसे **अर्द्धचक्री** कहा जाता है। रावण प्रतिनारायण था, अतः उसका वध बलदेव राम ने नहीं, नारायण लक्ष्मण ने किया था। **पदमपुराण**¹⁴³ में रावण एवं लक्ष्मण के युद्ध का विस्तृत वर्णन किया गया है।

उक्त सभी शलाका पुरुष कर्मभूमि में ही होते हैं; क्योंकि इनके जीवन में विशिष्ट कर्म का उदय होता है। आचार्य पूज्यपाद स्वामी¹⁴⁴ कर्मभूमि ही उसे कहते हैं, जहाँ शुभ एवं अशुभ कर्मों का आश्रय हो। यद्यपि तीनों लोक कर्म का आश्रय हैं, फिर भी इससे

139. तिलोयपण्णत्ती, 4 / 1448

140. वही, 4 / 1450

141. पद्म पुराण, भाग-1, 20 / 214

142. तिलोयपण्णत्ती, 4 / 1435

143. पदमपुराण, भाग-3, 76 / 28-34 / पृ.69

144. सर्वार्थसिद्धि, 3 / 37 / 437 / पृ. 173

उत्कृष्टता का ज्ञान होता है कि ये प्रकर्ष रूप से कर्म का आश्रय हैं। सातवें नरक को प्राप्त करने वाले अशुभ कर्म का भरतादि क्षेत्रों में ही अर्जन किया जाता है। इसीप्रकार सर्वार्थसिद्धि आदि स्थान विशेष को प्राप्त करने वाले पुण्य कर्म का उपार्जन भी यहीं पर होता है। तथा पात्रदान आदि के साथ कृषि आदि छह प्रकार के कर्म का आरम्भ यहीं पर होता है, इसलिये भरतादि (भरत, ऐरावत, विदेह) की कर्मभूमि संज्ञा सार्थक है।

अवसर्पिणी का पंचम काल (दुषमा) –

भगवान महावीरस्वामी का निर्वाण होने के तीन वर्ष आठ माह पन्द्रह दिन पश्चात् पंचम काल का प्रारंभ हुआ।¹⁴⁵ यह पंचम काल 21000 वर्ष प्रमाण है, इसके प्रारंभ में मनुष्यों की **उत्कृष्ट आयु** 120 वर्ष, **ऊँचाई** 7 हाथ और पृष्ठ भाग की **हड्डियाँ** चौबीस कही गई हैं।¹⁴⁶

भगवान महावीर निर्वाण के बाद भी इस पंचम काल के प्रारंभ में चतुर्थ काल के जन्मे अनेक लोगों ने मुक्ति प्राप्त की। भगवान महावीर के पश्चात् इन्द्रभूति गौतम, सुधर्मस्वामी एवं जम्बूस्वामी – ये तीन अनुबद्ध केवली¹⁴⁷ हुये। इस युग में अंतिम मोक्ष जाने वालों में **श्रीधर केवली** का नाम आता है, वे कुण्डलपुर–दमोह से मोक्ष गये।¹⁴⁸ केवलियों के पश्चात् द्वादशांग के ज्ञाता पाँच श्रुतकेवली

145. तिलोयपण्णत्ती, 4 / 1486

146. (1) वही, 4 / 1487

(2) लोकविभाग, 5 / 146 (पूर्वाद्ध)

147. वही, 4 / 1488–89

148. 'कुंडलगिरिम्मि चरिमो, केवलणाणीसु सिरिधरो सिद्धो।' – तिलोयपण्णत्ती, 4 / 1491

हुये।¹⁴⁹ अंतिम श्रुतकेवली भद्रबाहुस्वामी से प्रसिद्ध ऐतिहासिक सम्राट **चन्द्रगुप्त मौर्य** जिनदीक्षा अंगीकार करने वाले अंतिम मुकुटबद्ध शासक थे। भारतीय इतिहास में भी चन्द्रगुप्त के राज्याभिषेक आदि का उल्लेख तो मिलता है, परन्तु इनकी मृत्यु कहाँ / कैसे हुई, इस विषय में कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता।¹⁵⁰

वीर निर्वाण के 683 वर्ष बाद तक अंग एवं पूर्वो के ज्ञाता मुनिराजों द्वारा श्रुत परम्परा चलती रही, फिर आचार्य लोहार्य के पश्चात् कोई आचारांग के धारक नहीं हुये। किन्तु फिर भी आगे 20,317 वर्षों तक श्रुततीर्थ परम्परा हीयमानरूप से चलती रहेगी। तत्पश्चात् पंचम काल की समाप्ति पर श्रुत का व्युच्छेद हो जायेगा।¹⁵¹ बीच-बीच में भी धर्म विध्वंसक होते रहेंगे।

धर्म विध्वंसक कल्की एवं उपकल्की –

जैनागम में कल्की नाम के राजा का उल्लेख जैन यतियों पर अत्याचार करने के लिये बहुत प्रसिद्ध है। तिलोयपण्णत्ती में इस पंचम काल में 21 कल्की एवं 21 उपकल्की होने का उल्लेख मिलता है। प्रत्येक कल्की 1000 वर्ष के अन्तराल से तथा उसके 500 वर्ष पश्चात् उपकल्की होता है।¹⁵² वीरनिर्वाण के 1000 वर्ष पश्चात् इन्द्रपुर में कल्की उत्पन्न हुआ। इसका नाम चतुर्मुख, आयु 70 वर्ष एवं राज्यकाल 42 वर्ष रहा।¹⁵³ वह अपने राज्यकाल में

149. तिलोयपण्णत्ती, 4 / 1494

150. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग-1, परिशिष्ट, पृष्ठ-482 सारांश

151. तिलोयपण्णत्ती, 4 / 1504–1505 का सार

152. वही, 4 / 1528

153. वही, 4 / 1521

अतिलोभी होकर मुनिराज के आहार में से भी प्रथम ग्रास शुल्क स्वरूप मांगने लगा। मुनिराज अन्तराय जानकर निराहार चले जाते हैं। उनको अवधिज्ञान उत्पन्न हो जाता है।

इस घटना को कोई असुरदेव अपने अवधिज्ञान से देखकर धर्मद्रोही कल्की को मार डालता है। उस कल्की का पुत्र अजितंजय 'रक्षा करो..रक्षा करो.. कहकर' देव के चरणों में नमस्कार करता है, और वह देव 'धर्मपूर्वक राज्य करो' कहकर उसकी रक्षा करता है। इसके पश्चात् कुछ वर्षों तक लोगों में धर्म की वृत्ति होती है, फिर वह भी पुनः हीन होती जाती है।¹⁵⁴ ऐसी ही परिस्थिति प्रत्येक कल्की एवं उपकल्की के काल में बनती है। प्रत्येक कल्की के प्रति दुषमा (पंचम) कालवर्ती एक-एक साधु को अवधिज्ञान हो जाता है।

इस पंचम काल के प्रारंभ से ही विविध वनस्पतियाँ नीरस हो जाती हैं। मनुष्य अपने कुलक्रम से प्राप्त शील, सत्य, बल, तेज, तथा यथार्थ ज्ञान आदि गुणों से हीन पुरुषों की सेवा करते हैं, स्वयं मिथ्यात्व और मोह से ग्रस्त रहने के कारण मर्यादा और लज्जा से रहित हो जाते हैं। इस काल के मनुष्य विनय विहीन, चिन्तायुक्त, दम्भ, मद, क्रोध, लोभ एवं निर्दयता की मूर्ति दिखते हैं। इस काल में जीव पाप करके आते हैं और पापाचरण करते हुये ही जीवनयापन करते हैं।¹⁵⁵

इस पंचम काल में संयम गुण से विशिष्ट मनुष्यों का अभाव

154. तिलोयपण्णत्ती, 4 / 1523-1527

155. (1) वही, 4 / 1530-1535 का सार

(2) लोक विभाग, 5 / 147-148

होने के कारण यहाँ चारण ऋद्धिधारी मुनि, देव और विद्याधर भी नहीं आते।¹⁵⁶

अंतिम कल्की —

अभी वर्तमान में भरत एवं ऐरावत क्षेत्रों में पंचम काल चल रहा है, धीरे-धीरे यहाँ धर्म, आयु और ऊँचाई आदि कम होते जायेंगे, पश्चात् अन्त में इक्कीसवाँ कल्की उत्पन्न होगा। उस समय वीरांगज नामक एक मुनि, सर्वश्री नामकी आर्यिका, अग्निल और पंगुश्री नामक श्रावक युगल होंगे।

एक दिन कल्की अपने मंत्रियों से कहता है कि मंत्रिवर ! ऐसा कोई पुरुष तो नहीं है, जो मेरे वश में न हो। तब मंत्री कहता है कि राजन् ! एक मुनि आपके वश में नहीं है। तब कल्की राजा की आज्ञा होती है कि तुम उस मुनि के आहार में प्रथम ग्रास को शुल्क के रूप में ग्रहण करो। तत्पश्चात् कल्की की आज्ञा से प्रथम ग्रास माँगे जाने पर मुनीन्द्र तुरंत उसे देकर और अंतराय करके वापस चले जाते हैं और अवधिज्ञान को प्राप्त होकर उसी समय आर्यिका, श्रावक-श्राविका को बुलाकर प्रसन्नचित्त से कहते हैं कि अब दुषमा काल का अंत आ चुका है, तुम्हारी और हमारी तीन दिन की आयु शेष है और यह अंतिम कल्की है।

तब चारों जन, चारों प्रकार के आहार आदि का त्याग कर देते हैं और कार्तिक कृष्ण अमावस्या के दिन सूर्य के स्वाति नक्षत्र में रहते समाधि मरण पूर्वक देह त्याग कर **सौधर्म स्वर्ग** में उत्पन्न होते हैं। मुनिराज एक सागरोपम की आयु लेकर तथा

156. तिलोयपण्णत्ती, 4 / 1537

अन्य तीनों पल्योपम से कुछ अधिक आयु लेकर जन्मते हैं।¹⁵⁷

उसी दिन मध्याह्न में असुरकुमार जाति का कोई देव कल्की को मार डालता है और सूर्यास्त समय से अग्नि नष्ट हो जाती है।

अवसर्पिणी का छठा काल (अतिदुषमा) –

अंतिम कल्की की मृत्यु के 3 वर्ष 8 माह 15 दिन पश्चात् अतिदुषमा नामक छठा काल प्रारंभ होता है। यह भी 21000 वर्ष का है। इसके प्रारंभ में मनुष्यों के शरीर की ऊँचाई तीन अथवा साढ़े तीन हाथ, पृष्ठ भाग की हड्डियाँ बारह और उत्कृष्ट आयु बीस वर्ष प्रमाण होती है। अवसर्पिणी काल के प्रभाव से इसमें क्रमशः ह्रास होते हुये छठे काल के अन्त में मनुष्यों की ऊँचाई मात्र एक हाथ प्रमाण तथा उत्कृष्ट आयु 15–16 वर्ष मात्र रह जायेगी।¹⁵⁸

इस काल में जन्मे जीवों का जीवन अत्यन्त दुःखमय बीतता है। इस काल में अग्नि न होने के कारण जीवों का भोजन कच्चा ही होता है। धान्य आदि का उत्पादन बन्द हो जाने से वृक्षादि की मूल और मछली आदि ही उनका मुख्य आहार हो जाता है। इस काल के सभी जीव माँसाहारी होते हैं। ये मनुष्य मकान और वस्त्रों से रहित जंगलों में घूमते रहते हैं। पाप उदय से गूंगे, बहरे, अंधे, काणे, क्रूर, दरिद्री, काले, नंगे, कुबडे, हुण्डकसंस्थान वाले, अनेक प्रकार के रोगों से ग्रसित, दुर्गन्धित शरीर युक्त, पापिष्ठ, परिवाररहित, पशुओं के समान आचरण करने वाले होते हैं।

157. तिलोयपण्णत्ती, 4 / 1541–1553 (सारांश)

158. वही, 4 / 1557, 1575

आचार्य यतिवृषभ¹⁵⁹ कहते हैं –

दुक्खाण ताण कहिदुं, को सक्कइ एक्क जीहाए।

अर्थात् उनके दुःखों को एक जिह्वा से कहने में कौन समर्थ है ? कोई नहीं।

पाप के फल में ऐसे काल में जन्म होता है और यहाँ रहकर भी निरन्तर पाप करने से पुनः अधोगति की प्राप्ति होती है। इस संदर्भ में तिलोयपण्णत्ती¹⁶⁰ में यह नियम बताया है कि – इस काल में जन्मे सभी जीव नियम से नरक–तिर्यच गति से ही आते हैं और मरकर भी नरक–तिर्यच गति में ही जाते हैं।

कल्पान्त काल (प्रलय) –

अवसर्पिणी के छठे काल की समाप्ति के साथ ही कल्प काल भी समाप्त हो जाता है, कल्प काल का प्रारंभ उत्सर्पिणी से होता है। कल्प काल समाप्त होने में जब 49 दिन शेष बचते हैं, तब यहाँ के सर्व प्राणियों में भयोत्पादक प्रलय काल¹⁶¹ प्रारंभ होता है। सर्वप्रथम महागम्भीर, भीषण तूफान प्रारंभ होता है, जो वृक्षों एवं पर्वतों को चूर्ण कर देता है। आचार्य मानतुंग¹⁶² कहते हैं कि कल्पान्तकाल मरुता चलिताचलेन अर्थात् ये कल्पान्त काल की हवायें अचल (पर्वत) को भी चलित कर देती है। ऐसे भयंकर तूफान के समय सभी प्राणी महादुःखी होते हुये सुरक्षा के लिये

159. तिलोयपण्णत्ती, 4 / 1564 (उत्तरार्द्ध)

160. वही, 4 / 1563

161. वही, 4 / 1565

162. भक्तामर स्तोत्र, श्लोक–15

शरण खोजते रहते हैं, किन्तु उनमें से पृथक्-पृथक् संख्यात एवं सम्पूर्ण 72 युगल¹⁶³ ही गंगा-सिन्धु नदियों की वेदी और विजयाद्ध वन के मध्य सुरक्षा पाते हैं। इन्हीं स्थानों पर दयालु देवों और विद्याधरों¹⁶⁴ द्वारा भी संख्यात मनुष्य एवं तिर्यचों को सुरक्षित पहुँचा दिया जाता है।

49 दिन तक चलने वाले इस प्रलय के दौर में भयंकर गर्जना युक्त मेघों द्वारा सात-सात दिन तक निरन्तर क्रमशः बर्फ, क्षारजल, विषजल, धूम्र, धूलि, वज्र और अग्नि की वर्षा होती है, इससे भरत क्षेत्र के आर्य खण्ड में चित्रा पृथ्वी के ऊपर स्थित **एक योजन वृद्धिगत भूमि** जलकर नष्ट हो जाती है।¹⁶⁵

आधुनिक वैज्ञानिकों द्वारा मान्य वर्तमान उपलब्ध **दुनिया** को जैन मान्यतानुसार आर्यखण्ड की इस वृद्धिगत भूमि के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। यह एक योजन अर्थात् लगभग 6000 किलोमीटर मध्य से ऊपर उठी हुई भूमि प्रलय के पश्चात् छठे काल के अन्त में पुनः समतल हो जायेगी।

तिलोयपण्णत्ती में इस वृद्धिगत भूमि के जलकर नष्ट होकर पुनः समतल होने की बात तो कही है, परन्तु यह भूमि कब और कैसे वृद्धिगत हुई, इसके कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं हो सके हैं।

163. (1) 'पुहपुह संखेज्जाइं, बाहत्तरि सयल जुयलाइं'
— तिलोयपण्णत्ती, 4 / 1568

(2) लोकविभाग, 5 / 160

164. 'देवा विज्जाहरया, कारुण्णपरा णराण तिरियाणं'
— तिलोयपण्णत्ती, 4 / 1569

165. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4 / 1570-1573 का सार

(2) लोक विभाग, 5 / 161-163

यह अभी भी शोध का विषय है। **तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक** 4 / 13 पृष्ठ 563 में लिखा है कि काल के वश से घट-बढ़ होकर पृथ्वी में ऊँचा-नीचा पना देखा जाता है। तिलोयपण्णत्ती के प्रमाण अनुसार भी यह तो निश्चित ही है कि आर्यखण्ड की भूमि एक योजन वृद्धिगत हुई है।

हुण्डावसर्पिणी काल -

असंख्यात¹⁶⁶ अवसर्पिणी एवं उत्सर्पिणी काल बीत जाने पर एक प्रसिद्ध अपवाद स्वरूप हुण्डावसर्पिणी काल आता है। इसमें होने वाली अनेक विचित्रताओं की चर्चा तिलोयपण्णत्ती¹⁶⁷ आदि ग्रन्थों में दी है, उनका संक्षिप्त सार इसप्रकार है -

(1) सुषमा-दुषमा नामक भोगभूमि के तृतीय काल में ही वर्षा होना तथा विकलेन्द्रिय जीवों की उत्पत्ति होने लग जाना।

(2) जघन्य भोगभूमि में ही कल्पवृक्षों का अंत, कर्मभूमि का प्रारंभ तथा प्रथम तीर्थंकर एवं चक्रवर्ती का भी उत्पन्न हो जाना।

(3) सुषमा-दुषमा काल में ही जीवों का मोक्षगमन प्रारम्भ।

(4) चक्रवर्ती का विजय भंग और उसके द्वारा ब्राह्मण वर्ण की उत्पत्ति।

(5) शलाका पुरुषों की 63 संख्या में कमी होना।

(6) 9वें से 16 वें तीर्थंकरों के बीच धर्म की व्युच्छिन्नि होना।

166. तिलोयपण्णत्ती, 4 / 1637

167. वही, 4 / 1637-1645

- (7) ग्यारह रूद्र और कलह प्रिय नौ नारद उत्पन्न होना।
- (8) सातवें, तेईसवें एवं अंतिम तीर्थकर पर उपसर्ग होना।
- (9) तीसरे, चौथे एवं पंचम काल में उत्तम धर्म को नष्ट करने वाले विविध प्रकार के दुष्ट, पापिष्ठ, कुदेव और कुलिंगी भी दिखने लगते हैं।
- (10) चाण्डाल, शबर, पुलिंद, किरात इत्यादि हीन जातियाँ उत्पन्न होती हैं।
- (11) दुषमा नामक पंचम काल में 42 कल्की एवं उपकल्की होते हैं।
- (12) अतिवृष्टि, अनावृष्टि, भूवृद्धि और वज्राग्नि आदि का गिरना।

प्रत्येक अवसर्पिणी एवं उत्सर्पिणी में होने वाले तीर्थकरों का जन्म नियम से अयोध्या में ही होता है तथा सभी तीर्थकर नियम से सम्मेदशिखर से ही मुक्ति प्राप्त करते हैं,¹⁶⁸ किन्तु काल के प्रभाव से वर्तमान में 5 ही तीर्थकर अयोध्या में जन्मे तथा सम्मेदशिखर से भी 20 ही तीर्थकरों ने निर्वाण की प्राप्ति की। कुछ लोग प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव के पुत्री होने के पीछे भी काल का ही प्रभाव मानते हैं।

इसप्रकार अनेक प्रकार की विविधतायें, विचित्रतायें, दोष अथवा अपवाद अवसर्पिणी के इस हुण्डा काल में होते हैं।

उत्सर्पिणी के छह काल –

प्राणियों को प्राप्त अनुकूलताओं के ह्रासरूप अवसर्पिणी के छह काल व्यतीत हो जाने के पश्चात् इससे विपरीत क्रम में उत्सर्पिणी काल का प्रारंभ होता है। इसके छह काल अवसर्पिणी से विपरीत क्रम में हैं तथा परिस्थितियाँ भी उसी अनुसार होती हैं। अवसर्पिणी के प्रारंभिक तीन काल भोगभूमि के तथा अंतिम तीन काल कर्मभूमि के होते हैं। जब कि उत्सर्पिणी के प्रारंभिक तीन काल कर्मभूमि के तथा अंतिम तीन काल भोगभूमि के हैं। अवसर्पिणी काल के अंत में 49 दिन तक कुवृष्टियों के माध्यम से सृष्टि में प्रलय होती है। तथा उत्सर्पिणी काल में प्रारंभिक 49 दिन तक सुवृष्टियों के माध्यम से पुनः सृष्टि रचना प्रारंभ होती है। यहाँ सात-सात दिन तक पुष्कर, क्षीर, अमृत, रस, औषधि, सुगंध जलादि की वर्षा होने से वज्राग्नि से जली हुई सम्पूर्ण पृथ्वी शीतल हो जाती है।¹⁶⁹

शीतल गंध को ग्रहण कर गुफाओं में छिपे हुये मनुष्य और तिर्यच बाहर निकलने लगते हैं।¹⁷⁰ अभी इस काल में यहाँ अग्नि नहीं है, अतः उनका खान-पान रहन-सहन, आचरण आदि सब पशुओं जैसा ही होता है। फिर धीरे-धीरे आयु, तेज, बुद्धि, बाहुबल, क्षमा, धैर्य आदि की वृद्धि होते हुये 21 हजार वर्ष का **दुषमादुषमा** काल और उसके बाद जब आगामी **दुषमा** काल के भी 20 हजार वर्ष व्यतीत होते हैं, तबतक मनुष्यों का आहारादि

169. लोकविभाग, 5/167-169

170. (1) 'ततो सीयलगंधं, पादित्ता णिस्सरंति णर तिरिया' – तिलोयपण्णत्ती, 4/1583

(2) लोकविभाग, 5/171

उसी प्रकार चलता रहता है।

जब **दुषमा—सुखमा** (चतुर्थ) काल प्रारंभ होने में 1000 वर्ष शेष रहते हैं, तब इन भरत/ऐरावत क्षेत्रों की पृथ्वी पर पुनः 14 कुलकर उत्पन्न होते हैं।¹⁷¹ आचार्य नेमिचन्द्र¹⁷² 14 के स्थान पर 16 कुलकरों का उल्लेख करते हैं, वहाँ पद्म तथा महापद्म ये दो नाम अधिक हैं। ये सभी कुलकर जगत के प्राणियों को अग्नि को उत्पन्न करना, भोजन पकाकर खाना, विवाह करना, बन्धु परिवार आदि के साथ शिष्टाचार पूर्वक रहना आदि बातों को शिक्षक की भाँति समझाते हैं।

उत्सर्पिणी काल में भी 24 तीर्थकर होते हैं। अंतिम कुलकर के पुत्र प्रथम तीर्थकर होते हैं।¹⁷³ तीर्थकर हमेशा दुषमा—सुषमा काल में ही होते हैं, **यह अवसर्पिणी की अपेक्षा चौथा काल एवं उत्सर्पिणी की अपेक्षा तीसरा काल कहलाता है।**

उत्सर्पिणी में होने वाले 24 तीर्थकरों के नाम एवं उनके किस भव में तीर्थकर प्रकृति का बंधन हुआ या होगा — इसका भी नामोल्लेख जैन आगमों में उपलब्ध है। आचार्य यतिवृषभ¹⁷⁴ एवं आचार्य नेमीचन्द्र¹⁷⁵ के अनुसार आगामी चौबीसी के प्रथम तीर्थकर **महापद्म ने राजा श्रेणिक** के भव में तथा 16 वें तीर्थकर **निर्मल**

171. 'वास सहस्से सेसे उप्पत्ती कुलकराण भरहम्मि' — तिलोयपण्णत्ती, 4 / 1590

172. त्रिलोकसार, गाथा—871

173. 'पढम जिणो, अंतिल्ल कुलकर सुदो...' — तिलोयपण्णत्ती, 4 / 1599

174. 'तित्थयर णामकम्मं बंधंते ताण ते इमे णामा सेणिग.....किण्हा.....'

— तिलोयपण्णत्ती, 4 / 1605—1606

175. 'सेणियचर पढमतित्थयरो....किण्हचरणिम्मलओ....' — त्रिलोकसार, गाथा—872 व 874

ने **श्रीकृष्ण** के भव में तीर्थकर प्रकृति का बंध किया।

इसप्रकार तीर्थकर, चक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण एवं बलभद्रों के जन्म एवं कर्म सहित तृतीय काल पूर्ण होता है। **उत्सर्पिणी का चौथा काल प्रारंभ होते ही एक ही समय में विकलेन्द्रिय प्राणियों के समूह एवं कुलभेद नष्ट हो जाते हैं तथा प्रथम समय में कल्पवृक्षों की भी उत्पत्ति हो जाती है।**¹⁷⁶

उत्सर्पिणी के चौथे काल में जघन्य भोगभूमि, पंचम काल में मध्यम भोगभूमि तथा छठे काल में उत्तम भोगभूमि के समान रचना होती है। इन भोगभूमियों का स्वरूप अवसर्पिणी के कालों के समान ही है, अन्तर मात्र इतना है कि यहाँ उत्तरोत्तर वृद्धि का काल है, वहाँ ह्रास का काल था। इस प्रकार उत्सर्पिणी के छह काल समाप्त होने पर पुनः अवसर्पिणी काल प्रारंभ होता है। इस प्रकार यह क्रम अनादि काल से चला आ रहा है और अनन्त काल तक यही क्रम चलता रहेगा।

काल अपरिवर्तन वाले क्षेत्र —

इस लोक में बहुत सारे क्षेत्र ऐसे हैं, जहाँ सदैव एक जैसा ही काल वर्तता है। षट् काल रूप परिवर्तन मात्र पाँच भरत एवं पाँच ऐरावत क्षेत्रों में ही होता है, वह भी उनके आर्य खण्डों में ही होता है; म्लेच्छ खण्डों में नहीं होता। तिलोयपण्णत्ती¹⁷⁷ एवं त्रिलोकसार¹⁷⁸ में पाँच म्लेच्छ खण्डों और विद्याधर श्रेणियों में अवसर्पिणी के

176. तिलोयपण्णत्ती, 4 / 1632

177. वही, 4 / 1629

178. त्रिलोकसार गाथा—883

चौथे काल के प्रारंभ से अंत तक हानि तथा उत्सर्पिणी के तीसरे काल में प्रारंभ से अंत तक वृद्धि होना बताया है।

भरत एवं ऐरावत क्षेत्रों के अतिरिक्त सभी भूमियों में काल परिवर्तन का निषेध करते हुये उमास्वामी आचार्य लिखते हैं —
ताभ्यामपरा भूमयोऽवस्थिताः¹⁷⁹ अर्थात् अन्य सभी भूमियाँ षट् काल परिवर्तन से रहित है।

देवकुरु¹⁸⁰—**उत्तरकुरु**¹⁸¹ में सदैव सुषमा—सुषमा (उत्तम भोग भूमि) नामक प्रथम काल जैसी रचना वर्तती है। **विदेह क्षेत्र** में सदैव दुषमा—सुषमा नामक चौथे काल जैसी दशा रहती है। यहाँ कभी अतिवृष्टि—अनावृष्टि, अकाल आदि नहीं होता।¹⁸² **हरि क्षेत्र**¹⁸³ एवं **रम्यक क्षेत्र** में सदैव सुषमा नामक दूसरे काल के समान मध्यम भोगभूमि की रचना रहती है, जो कि हानि—वृद्धि से सदा रहित है। तथा **हैमवत क्षेत्र**¹⁸⁴ एवं **हैरण्यवत क्षेत्र** में सदा काल सुषमा—दुषमा नामक तृतीय काल के समान जघन्य भोगभूमि वर्तती है। उक्त पहले से चौथे काल के नियमों को आचार्य नेमीचन्द्र¹⁸⁵ ने एक ही गाथा में प्रस्तुत कर दिया है। लोकविभाग¹⁸⁶ में निषध, नील आदि पर्वतों पर भी काल अपरिवर्तन बताया है।

179. तत्त्वार्थसूत्र, 3/28

180. तिलोयपण्णत्ती, 4/2170

181. वही, 4/2219

182. वही, 4/2277

183. वही, 4/1767

184. वही, 4/1726

185. त्रिलोकसार गाथा—882

186. लोकविभाग, 5/35—38

मध्यलोक में ढाई द्वीप व अंतिम आधे द्वीप व समुद्र को छोड़कर शेष असंख्यात द्वीप—समुद्रों में जघन्य भोगभूमि (तृतीय काल) वर्तती है। अंतिम आधा स्वयंभूरमण द्वीप एवं अंतिम स्वयंभूरमण समुद्र में कर्मभूमि है, वहाँ पंचम काल (दुषमा) जैसी स्थिति है।¹⁸⁷

चतुर्गति में काल परिवर्तन के संबंध में **आचार्य नेमीचन्द्र** लिखते हैं —

‘पढमो देवे चरिमो गिरए, तिरिए णरेवि छक्काला’¹⁸⁸ अर्थात् **देवगति** में सदैव प्रथम (सुषमा—सुषमा) काल, **नरक गति** में सदैव छठा (दुषमा—दुषमा) काल जैसा वातावरण रहता है तथा **मनुष्य—तिर्यचों** में छहों काल वर्तते हैं। जहाँ देव एवं नारकियों के प्रथम एवं छठे काल की बात कही, वहाँ परिस्थितियों की अपेक्षा ही बात समझना चाहिये; आयु की अपेक्षा नहीं।

6. वैदिक ग्रन्थों में भोगभूमि और कर्मभूमि का उल्लेख —

भोगभूमि व्यवस्था की जैसी चर्चा जैन ग्रन्थों में मिलती है, वैसी ही वैदिक संस्कृति के पुराणों में भी प्राप्त होती है। वहाँ वर्णित कृतयुग अथवा सतयुग की व्यवस्था को जैन भोगभूमि व्यवस्था के साथ बहुत कुछ साम्यरूप में देखा जा सकता है। **वायुपुराण** में आद्य कृतयुग के अंतर्गत जिस व्यवस्था का वर्णन किया गया है, उसका तो जैनोक्त भोगभूमि व्यवस्था से पूर्णतः तादात्म्य ही स्थापित किया जा सकता है।¹⁸⁹

187. हरिवंश पुराण, 5/30—31

188. त्रिलोकसार, गाथा—884

189. कर्मानन्द : ‘धर्म का आदि प्रवर्तक’, पृ.—241 (भारतीय सृष्टिविद्या—पृ.—26 से साभार)

विष्णुपुराण, अग्निपुराण और मार्कण्डेयपुराण में कर्मभूमि और भोगभूमि का उल्लेख हुआ है। विष्णुपुराण (द्वितीयांश, तृतीय अध्याय, श्लोक-1 से 5) में लिखा है कि 'समुद्र के उत्तर और हिमाद्रि के दक्षिण में भारतवर्ष है। इसका विस्तार नौ हजार योजन है। यह स्वर्ग और मोक्ष जाने वाले पुरुषों की कर्मभूमि है। इसीस्थान से मानव स्वर्ग और मोक्ष प्राप्त करता है। यहीं से नरक और तिर्यच गति में भी जाते हैं। भारतभूमि के अतिरिक्त अन्य भूमियाँ भोगभूमि हैं।'

अग्निपुराण अध्याय-118, श्लोक-2 में भारतवर्ष को कर्मभूमि बताते हुये लिखा है - 'अत्रापि भारतं श्रेष्ठं जम्बूद्वीपे महामुने! यतो हि कर्मभूरेषा ह्यतोऽन्या भोगभूमयः।।' इसके अतिरिक्त मार्कण्डेय पुराण, अध्याय 55, श्लोक-20-21 में भी भोगभूमि और कर्मभूमि की चर्चा है।¹⁹⁰

इसप्रकार यद्यपि हिन्दु पुराणों में भी अनेक स्थानों पर भोगभूमि एवं कर्मभूमि शब्द का उल्लेख हुआ है, तथापि जितनी तन्मयता एवं आग्रह से इन व्यवस्थाओं का वर्णन जैन परम्परा में किया गया है, उतना अन्यत्र नहीं है।

आधुनिक इतिहासवेत्ताओं द्वारा कल्पित चरागाह एवं कृषि युग का सूत्रपात जैन कर्मभूमि व्यवस्था के प्रारंभ से माना जा सकता है। कर्मभूमि का प्रारंभ आदिमानव की स्थिति को प्रदर्शित करता है एवं उसका क्रमिक विकास सभ्य सुसंस्कृत मानव के रूप में वर्तमान में दिखाई देता है।

190. जम्बूद्वीप प्रज्ञप्तिसूत्र, प्रस्तावना, पृष्ठ-26 से साभार

7. कुछ सहज जिज्ञासायें ?

विविध आगम प्रमाणों के आधार से काल के स्वरूप एवं उसके विविध प्रकार से भेद-प्रभेदों की चर्चा करने के उपरान्त भी इन विषयों को लेकर मन में कुछ जिज्ञासायें शेष रह जाती हैं, यहाँ उनका यथोचित समाधान करने का प्रयास किया जा रहा है।

वर्तमान में कौनसा काल - उत्सर्पिणी या अवसर्पिणी ?

जैन आगमों के अनुसार वर्तमान में अवसर्पिणी काल चल रहा है। यह काल ह्रास/गिरावट का काल होता है। आज मानव जाति हर क्षेत्र में विकासोन्मुख ही नहीं, बल्कि विकासशील दिखाई देती है। ऐसी स्थिति में आगमानुसार वर्तमान काल ह्रास का काल (अवसर्पिणी) है - यह बात स्वीकार करना अथवा गले उतारना सहज नहीं है। इसे आज के भौतिकवादी युग में सिद्ध करना भी एक चुनौतिभरा कार्य है।

अष्टापद रिसर्च इंटरनेशनल फाउण्डेशन द्वारा दिनांक 15-16 दिसम्बर, 2012 को अहमदाबाद में आयोजित सेमीनार में जब मैंने अपना शोध पत्र "अवसर्पिणी काल और वर्तमान दुनिया" विषय पर प्रस्तुत किया तो वहाँ मौजूद नासा एवं इसरो से जुड़े अनेक वैज्ञानिकों ने वर्तमान काल को अवसर्पिणी मानने में आपत्ति व्यक्त की। पत्र वाचन के उपरान्त अनेक सवाल-जवाब, तर्क-वितर्क हुये। उनका कहना था कि -

"वर्तमान में उत्सर्पिणी काल चल रहा है। वर्तमान काल ह्रास का नहीं; विकास का काल है। यह विज्ञान का युग है। नई-नई

मशीनें, कैलकुलेटर, कम्प्यूटर, इंटरनेट इत्यादि की खोज मनुष्य की प्रगति की द्योतक हैं। आज के 100 वर्ष पहले लाइटें नहीं थी, आवागमन के साधन सुलभ नहीं थे। मोबाइल, टेलिविजन, ए.सी आदि सुख-सुविधायें नहीं थी। पहले के लोगों का रहन-सहन और आज के लोगों की जीवन शैली में जमीन-आसमान का अंतर है, और यह अंतर विकास की ओर है; ह्रास की ओर नहीं।”

उक्त बातें बौद्धिक स्तर पर सही प्रतीत होने पर भी यदि श्रद्धा के स्तर पर बात की जाये तो आगम की सत्यार्थता पर शंका नहीं की जा सकती; वह हमारे लिये शिरोधार्य है; अतः जरूरत है, इस दिशा में गहन चिंतन-मनन की।

आज विज्ञान का विकास हुआ दिखता है; परन्तु इनके द्वारा भी मनुष्य की शारीरिक और मानसिक क्षमताओं का ह्रास ही हुआ है। आज कैलकुलेटर से हिसाब लगाना बहुत आसान हो गया है; पर हमारे दिमाग उतने ही कमजोर हो गये हैं। छोटे-छोटे हिसाब के लिये भी हम कैलकुलेटर तलाशते हैं। आज मनोरंजन के साधनों में टी.वी ने सर्वोत्कृष्ट स्थान बना रखा है; पर क्या इससे हमारे सामाजिक एवं पारिवारिक जीवन का ह्रास नहीं हुआ है ?

मोबाइल, कम्प्यूटर एवं इंटरनेट आज के समय में बहुत उपयोगी हैं, इनसे कार्य आसान हो गये हैं; पर क्या इनके बिना हम अपने आप को अपाहिज महसूस नहीं करते ?

विज्ञान द्वारा जो विकास दिखाई देता है, कहीं यह विकास विनाश की दस्तक तो नहीं है ? मार्च 2011 में रेडियेशन की वजह से जापान में हुई तबाही किससे छिपी है।

वस्तुतः अवसर्पिणी काल के सन्दर्भ में ह्रास से तात्पर्य आयु, शरीर का उत्सेध (ऊँचाई), बाहुबल, धर्म, ज्ञान, गाम्भीर्य, धैर्य इत्यादि के ह्रास से है। मात्र भौतिक विकास उन्नति का सूचक नहीं है। वर्तमान में शारीरिक सामर्थ्य आदि की कमी के साथ-साथ नैतिक मूल्यों का भी ह्रास होता जा रहा है। समाज का नैतिक एवं चारित्रिक पतन भी वर्तमान में अवसर्पिणी काल को ही सिद्ध करता है।

प्रथम आदि कालों में बताई गई मनुष्यों की ऊँचाई, आयु आदि पर विश्वास नहीं होता ? पत्नियों और पूर्व में आयु का वर्णन और धनुषों में ऊँचाई की चर्चा काल्पनिक सी लगती है ?

जिनागम के अनुसार प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के शरीर की ऊँचाई 500 धनुष थी। एक धनुष चार हाथ का होता है और एक हाथ लगभग सवा फीट का। इस प्रकार उनकी ऊँचाई लगभग 2500 फीट की थी। दूसरे प्रकार से देखें तो शास्त्रों में 2000 धनुष का एक कोस बताया गया है। एक कोस में लगभग तीन किलोमीटर होते हैं, तदनुसार भी 500 धनुष का अर्थ लगभग पौन किलोमीटर होता है।

ऋषभदेव की आयु 84 लाख पूर्व की थी। एक पूर्व में 70 लाख 56 हजार करोड़ वर्ष होते हैं। ऐसे एक पूर्व की नहीं 84 लाख पूर्व की उनकी आयु थी।

जब हम इसप्रकार की बातें पढ़ते-सुनते हैं, तो एकाएक विश्वास नहीं होता, पर यदि **कालचक्र** पर दृष्टि दी जाये तो इसमें असम्भव जैसी कोई बात नहीं है, क्योंकि वर्तमान में अवसर्पिणी काल चल रहा है।

भगवान ऋषभदेव से भगवान महावीर स्वामी तक सभी तीर्थकरों के शरीर की ऊँचाई एवं आयु पर दृष्टि देवें तो बात एकदम स्पष्ट हो जाती है। प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव की ऊँचाई 500 धनुष (2000 हाथ) और अंतिम तीर्थकर महावीरस्वामी की ऊँचाई मात्र 7 हाथ अर्थात् लगभग पौने नौ फीट। इसी प्रकार ऋषभदेव की आयु 84 लाख पूर्व एवं महावीर स्वामी की मात्र 72 वर्ष। चक्रवर्ती आदि सभी महापुरुषों की आयु, ऊँचाई आदि में भी इसी प्रकार का ग्राफ बनता है।

यह सब एकदम नहीं हुआ इसमें लगभग एक कोड़ाकोडी सागर का काल व्यतीत हुआ है। वर्तमान में हो रही शोध-खोज के अनुसार करोड़ों वर्षों पहले के प्राप्त अवशेषों आदि के आधार पर भी उनकी ऊँचाई आदि की सिद्धि हो जाती है। डायनासोर की खोज इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि उस काल में इतने विशालकाय जीव/प्राणी इस धरातल पर हुआ करते थे। ऐसे अनेक उदाहरणों से उक्त बातों को सिद्ध किया जा सकता है।

इस प्रकार प्रथमानुयोग एवं करणानुयोग में उपलब्ध इन बातों पर विश्वास भी **कालचक्र** को सही रूप में समझने से ही होता है।

कौनसा काल श्रेष्ठ ?

काल के इतने भेद-प्रभेद बताये गये हैं, आखिर इनमें से कौनसा काल श्रेष्ठ है ? हमारे लिये कौनसा काल अच्छा है ? कौनसे काल में जीव सबसे अधिक सुखी होते हैं ?

छह काल दो भागों में विभक्त हैं। प्रारंभिक तीन काल भोग भूमि के और अंतिम तीन काल कर्म भूमि के हैं। इनमें या तो आप

भोग भूमि को अच्छा कहेंगे या कर्म भूमि को। कुछ लोग चौथे काल को श्रेष्ठ कहते हैं तो कुछ उत्तम भोग भूमि रूप पहले काल को ? छह कालों में दुषमा (पंचम) और अतिदुषमा (छठे) काल को कौन श्रेष्ठ कह सकता है ?

प्रथम काल को श्रेष्ठ कहने वालों का तर्क है कि वहाँ मन चाहे भोग मिलते हैं, कल्प वृक्षों से सभी सुख-सुविधाओं की प्राप्ति हो जाती है। भोग सामग्री प्रचुर मात्रा में होती है, रोग और वृद्धावस्था नहीं है, आयु बहुत लम्बी होती है तथा मरकर भी सभी जीव नियम से देव गति में ही जाते हैं; अतः यही श्रेष्ठ काल है।

यह काल भोगों में सुख मानने वालों को ही अच्छा लग सकता है; माना कि वहाँ सुविधायें बहुत हैं, आयु अधिक है; पर वह सब कुछ शाश्वत नहीं है, मरण तो होता ही है। दूसरी बात अधिक भोग सामग्री होने पर भी वह इस जीव को सुखी करने में समर्थ नहीं है। आचार्य नेमीचन्द्रस्वामी त्रिलोकसार में लिखते हैं कि — 'प्रचुर भोग सामग्री भी भोग भूमिया जीवों को तृप्ति देने में समर्थ नहीं है।' पंचेन्द्रिय के विषय भोग तो चाहे कर्म भूमि के हों या भोग भूमि के — मधुर विष के समान ही हैं। इन्हें भोगने पर शान्ति नहीं मिलती; ये तो आग में घी डालने जैसा ही कार्य करते हैं। अतः भोग भूमि के काल को श्रेष्ठ नहीं कहा जा सकता।

कर्म भूमि के दुषमा-सुषमा नामक **चौथे काल** को श्रेष्ठ कहने वालों का तर्क है कि इस काल में तीर्थकर होते हैं। जीवों को शुक्ल ध्यान, श्रेणी चढ़ना एवं निर्वाण की प्राप्ति इसी काल में संभव है; अतः इसे ही श्रेष्ठ कहना चाहिये।

एक अपेक्षा से उक्त बात ठीक है। पर भाई ! क्या चतुर्थ काल में जन्मे सभी जीव निर्वाण की प्राप्ति करते हैं ? क्या चौथे काल में सभी धर्मात्मा ही होते हैं ? क्या पंचम काल में धर्म नहीं होता ? चतुर्थ काल के भी सभी जीव धर्मात्मा नहीं होते तथा पंचम काल के सभी अधर्मात्मा नहीं होते।

दूसरी बात हमारा जन्म चतुर्थ काल में भी अनंत बार हो चुका है। काल परावर्तन की दृष्टि से देखें तो चतुर्थ काल का कोई भी समय ऐसा नहीं है, जब हमारा जन्म न हुआ हो। चतुर्थ काल में जन्म लेकर भी जब तक यह जीव अपने निज ज्ञायक आत्मा को न जाने तब तक सुखी नहीं हो सकता। तथा पंचम काल में भी अपने स्वरूप को जानकर पहिचानकर आत्मानुभव रूप सच्चे सुख की प्राप्ति की जा सकती है। इस काल में भी धर्मध्यान का सद्भाव आगम में बताया गया है।

ऋषभदेव ने तृतीय काल में निर्वाण प्राप्त किया तो इन्द्रभूति, सुधर्मस्वामी, जम्बूस्वामी, श्रीधर केवली आदि अनेक जीवों को पंचम काल में भी निर्वाण प्राप्त हो गया, यह बात अलग है कि इन्द्रभूति आदि का जन्म चतुर्थ काल में हुआ था।

वस्तुतः कोई भी बाहरी काल इस जीव को सुखी-दुखी करने में समर्थ नहीं है। जिस काल में यह जीव अपने स्वभाव के सन्मुख हो वही काल श्रेष्ठ है। सच्चा सुख तो अपने में ही है; अतः बाहरी काल से दृष्टि हटाकर अपने में दृष्टि केन्द्रित करने में ही सार है, यही सुखी होने का उपाय है, यही मुक्ति का मार्ग है। हम सभी निज ज्ञायक की शरण लेकर परम सुख की प्राप्ति करें — इसी भावना से विराम लेता हूँ।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

- आदिपुराण : आचार्य जिनसेन
सम्पादक — डॉ० पन्नालाल जैन, साहित्याचार्य
भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली
भाग-1, दसवाँ संस्करण 2004, भाग-2, नौवाँ संस्करण 2003
- कार्तिकेयानुप्रेक्षा : स्वामी कार्तिकेय
सम्पादक — पं. महेन्द्रकुमार पाटनी, काव्यतीर्थ
श्री दिगम्बर जैन शिक्षण समिती, इंदौर एवं
पं. टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर, चतुर्थ सं. 1996
- गोमटसार जीवकाण्ड : श्रीमन्नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती
श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास, छटा सं. 1985
- जंबूद्वीपपद्मसूत्र : स्थविरप्रणीत षष्ठ उपांग
सम्पादक — डॉ० छगनलाल शास्त्री, पं. शोभाचंद्र भारिल्ल
- जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश : क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी
सम्पादक— प्रो० ए. एन. उपाध्ये, डॉ० हीरालाल जैन
प्रकाशक— भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली
भाग-1, आठवाँ संस्करण—2003
- बृहद् द्रव्यसंग्रह : आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव
संस्कृत वृत्ति— श्री ब्रह्मदेव सूरि
श्री दि. जैन शिक्षण संयोजन समिति, इन्दौर, द्वितीय सं. 1995
- भारतीय सृष्टिविद्या : डॉ० प्रकाश
सम्पादक— लक्ष्मीचंद्र जैन जगदीश
प्रकाशक— भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, वीर नि. सं. 2500
- भक्तामर स्तोत्र : आचार्य मानतुंग
प्रकाशक/मुद्रक — वीर प्रेस, मनिहारों का रास्ता, जयपुर
- महापुराण : महाकवि पुष्पदंत
सम्पादक — डॉ० पी. एल. वैद्य
प्रकाशक — भारतीय ज्ञानपीठ दिल्ली
भाग-1, द्वितीय सं. 2001
- तत्त्वार्थवार्तिक (राजवार्तिक) : भट्ट अकलंकदेव
सम्पादक — प्रो० महेन्द्रकुमार जैन, न्यायाचार्य
भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली
भाग-1 पंचम संस्करण—1999, आठवाँ संस्करण—2008
भाग-2 पंचम संस्करण—1999, आठवाँ संस्करण—2009
- तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार (सप्त खण्ड) : श्री विद्यानंदस्वामी
सम्पादक — पं. वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री
आचार्य कुंथुसागर ग्रंथमाला, सोलापुर,
प्रथम खंड, सन् 1949, द्वितीय खंड, सन् 1951, तृतीय खंड,
सन् 1953, चतुर्थ खंड, सन् 1956, पंचम खंड, सन् 1964, षष्ठ
खंड, सन् 1969, सप्तम खंड, सन् 1984
- तत्त्वार्थसूत्र : आचार्य उमास्वामी
वीर पुस्तक भण्डार, जयपुर, 2005
- तिलोयपण्णत्ती : आचार्य यतिवृषभ
टीकाकर्त्री — आर्यिका विशुद्धमती
सम्पादक — डॉ० चेतनप्रकाश पाटनी

- श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभा,
भाग-1, प्रथम सं. 1984 (तिजारा, अलवर, तृतीय सं.1997)
भाग-2, प्रथम सं. 1986, भाग-3, प्रथम सं. 1988
- तिलोयपण्णती (त्रिलोक प्रज्ञप्ति) : आचार्य यतिवृषभ
सम्पादक - प्रो० आदिनाथ उपाध्याय एवं प्रो० हीरालाल जैन
जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर,
भाग-1, 1956, भाग-2, 1951
- त्रिलोकसार : श्रीमन्नेमिचंद्र सिद्धान्तचक्रवर्ती
टीकाकर्त्री - आर्यिका विशुद्धमति
सम्पादक - पं.रतनचंद जैन मुख्तार, डॉ० चेतनप्रकाश पाटनी
श्री शान्तिवीर दि.जैन संस्थान, महावीरजी, वीर नि. सं. 2501
- नियमसार : आचार्य कुन्दकुन्द
संस्कृत टीका- श्री पद्मप्रभमलधारी देव
श्री कुन्दकुन्द कहान दि. जैन तीर्थसुरक्षा ट्रस्ट, सप्तम सं.1993
- पद्म पुराण भाग-3 : आचार्य रविषेण
भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, पाचवाँ सं. 1997
- पंचास्तिकाय संग्रह : आचार्य कुन्दकुन्द
संस्कृत टीका- आचार्य अमृतचंद्र
पं. टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर, छठा सं. 1998
- पंचास्तिकाय (तात्पर्यवृत्ति) : आचार्य कुन्दकुन्द
संस्कृत टीका- आचार्य जयसेन
सम्पादक - ब्र. कल्पना जैन, सागर
तीर्थधाम मंगलायतन, अलीगढ़, प्रथम सं. 2010
- प्रवचनसार : आचार्य कुन्दकुन्द
संस्कृत टीका (तत्त्वप्रदीपिका)- आचार्य अमृतचंद्र
सम्पादक- डॉ० हुकमचंद भारिल्ल
श्री कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन तीर्थसुरक्षा ट्रस्ट, 1985
- लोक विभाग : श्री सिंहसूरर्षि
सम्पादक - प्रो० ए.एन.उपाध्ये, डॉ० हीरालाल जैन
प्रकाशक - जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर, 1962
- षट्दर्शनसमुच्चय : हरिभद्रसूरि
सम्पादक - डॉ० महेन्द्रकुमार जैन, न्यायाचार्य
प्रकाशक - भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, पंचम सं. 2000
- समाधितंत्र : आचार्य पूज्यपाद
संस्कृत टीका - आचार्य प्रभाचन्द्र
प्रकाशक - श्री कुन्दकुन्द कहान पारमार्थिक ट्रस्ट, मुम्बई
पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर, श्री आदिनाथ-
कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट, अलीगढ़
- सर्वार्थसिद्धि : आचार्य पूज्यपाद
सम्पादक - सिद्धान्ताचार्य पं. फूलचन्द्र शास्त्री
प्रकाशक - भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, छठा सं. 1995
- हरिवंशपुराण : आचार्य जिनसेन
सम्पादक - पं. पन्नालाल जैन, साहित्याचार्य
प्रकाशक - भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, 1962
- शाश्वत तीर्थधाम सम्मोदशिखर : डॉ० हुकमचंद भारिल्ल
प्रकाशक- पं. टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर, सप्तम सं.2012